मैं
वक्त के हूं सामने
[कविता]



नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
23 दरियागंज नई दिल्ली 110002



नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23 दरियागंज नयी दिल्ली 110002

शाखाएं
चौड़ा रास्ता जयपुर
34, नेताजी सुभाष मार्ग इलाहाबाद-3

ISBN 81 214-0359-6

मूल्य 60 00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज नयी दिल्ली 110002 द्वारा
प्रकाशित / प्रथम संस्करण 1990 / सर्वाधिकार : श्री गिरिजा कुमार माथुर /
[illegible] प्रिंटिंग प्रेस ए 95 सेक्टर 5 नोएडा 201301 में मुद्रित।

Main Vakt ke Hun Samne (poetry) by Girija Kumar Mathur

वक्तव्य

मेरा यह कविता संकलन बहुत दिनों के बाद निकल रहा है । पिछला संकलन 'साक्षी रहे वर्तमान' 1979 में प्रकाशित हुआ था । उसके बाद संभावित अणुयुद्ध की विभीषिका और शांति की अनिवार्यता पर आधारित सिर्फ 'कल्पांतर' विज्ञान काव्य ही बीच में आया था । जाहिर है कि इन 10 वर्षों में लिखी सारी कविताएं एक संकलन में नहीं आ सकती थीं । इसलिए इस संग्रह में मैंने अधिकतर लंबी कविताएं ही रखी है । कुछ कविताओं को छोड़कर अधिकांश कविताएं 1980 के बाद की है । पहली कविता 'शब्द जो रोशनी हैं' एक आत्मस्वीकार है जो 3 मई 1980 की है तथा अंतिम कविताएं इस वर्ष की रचनाएं है ।

कुछ कविताएं ऐसी भी हैं जो वर्षों पहले लिखी गई थी लेकिन संयोगवश किसी भी संकलन में आने से रह गईं । मैं विशेष रूप से दो रचनाओं का उल्लेख करना चाहता हूं । 'इतिहास का पूर्वाभास 3 जून 1947 और विक्षिप्तों का जुलूस 24 सितम्बर 1966 की रचनाएं है । ये दोनों ही प्रस्तुत संकलन की दो नई कविताओं की पूरक रचनाएं हैं और, मेरी समझ में आज भी उतनी ही सार्थक हैं जितनी तब थीं। इतिहास का पूर्वाभास मैंने आज से 43 वर्ष पहले 3 जून 1947 की उसी रात लखनऊ में लिखी थी जिस दिन भारत के विभाजन की घोषणा हुई थी । 43 वर्ष पहले भविष्य के इतिहास में झांककर जो परिदृश्य मेरी आंखों के सामने स्पष्ट रूप से तैर गया था वह आज हमें चारों ओर दिखाई दे रहा है । इस कविता में भी भविष्य की वही चेतावनी मैंने दी थी जो 15 अगस्त 1947 को मेरी सुपरिचित कविता आज जीत की रात/ पहरुए सावधान रहना' में थी और इस संकलन की 'ये मिट्टी केसर है तथा अन्य कविताओं में भी मौजूद है ।

भविष्य की संभावनाएं मुझे हमेशा आकृष्ट करती रही हैं चाहे वे मानवीय इतिहास और यथार्थ के संदर्भ से जुड़ी हों या सृष्टि की नई वैज्ञानिक अवधारणाओं से। मेरी समझ में वर्तमान की तीखी पहचान से ही अतीत और भविष्य को समझा जा सकता है क्योंकि वर्तमान ही अतीत और भविष्य को जोड़ने वाली कड़ी होता है । अतीत को खंगालकर वर्तमान जीवन के लिए सार्थक तत्व खोजना मूल्यवान तो होता है लेकिन बहुत दुष्कर नहीं होता क्योंकि एक पहले से बनी बनाई आधार पीठिका इतिहास से सीधे मिल जाती है । लेकिन इसमें अतीतोन्मुखी होने का खतरा भी रहता है कि पहले आप अतीत में पीछे लौटें और वहां से वर्तमान को देखने का यत्न करें । हो सकता है कि समय की दूरी की झाइयों में लिपटा अतीत तो [illegible] की निकटतम सचाईयां क्रूर, कठिन कड़वी और अरुचिकर दिखें । [illegible] स्मृति गंधी होकर रह जाती है । वर्तमान परिस्थितियों में अपने को अकेला

अजनबी या निर्वासित होने का अहसास होने लगता है जिसका अर्थ वर्तमान से मुंह मोडना है । अपने पिछले अनुभव को स्मृति गंध के रूप में प्रस्तुत करना तभी श्रेयस्कर होता है जब वह यथावत यानी 'यथास्थितिवादी' चित्रण न बने और अतीत में ही न रह जाय । वह वर्तमान से जुडकर उसी तरह उद्वेलित कर सके जैसे उस अनुभव ने हमें पहले किया था यानी वर्तमान की अधिक तीखी पहचान दे सके और मानवीय हित मे भविष्य के परिवर्तन के लिए बेचैन भी कर सके । परिवेश के अत्यंत सामान्यतर 'तथ्यों' का रूखा सूखा सीधा सपाट रपट जैसा विवरण या सिर्फ गतिहीन, 'स्थिर रेखांकन' ('स्टिल लाइफ') संवेग विहीन होकर पाठक के मन को छूता नहीं है । पाठक को यही स्पष्ट नही हो पाता कि आखिर कवि कहना क्या चाहता है क्योंकि उसमें कथ्य का वैचारिक आधार अस्पष्ट रह जाता है । आदमी हमेशा अपनी वास्तविक स्थिति संस्कार और मनोरथ तथा दूसरी ओर कठिन यथार्थ के साथ एक द्वंद्वात्मक स्थिति में रहता है । वस्तुत कविता एक अत्यंत सूक्ष्म जटिल द्वंद्वात्मक प्रक्रिया की टकराहट से जन्म लेती है । यह टकराहट कवि की रुचि संस्कार और वस्तुगत पहचान भावना और विचार सांस्कृतिक परंपरा और समकालीन यथार्थ कथ्य और कला स्वप्न फैंटेसी और वास्तविकता के बीच संघर्ष तर्क और तर्कातीत अनुभव की अमूर्त जटिलता और भाषा यानी सम्प्रेषण के बीच लगातार चलती रहती है । काव्य रचना में यह सभी तत्व निरंतर द्वंद्वात्मक स्थिति में रहते हैं । इनमें से किसी एक को लेकर और दूसरे को छोडकर कविता सफल नहीं हो सकती । न तो सिर्फ विचार या कथ्य ही कविता कहला सकते न कोरी भावना या कला । कवि की प्रातिभ दृष्टि कथ्य और कथन क्षमता के इस नाज़ुक संतुलन को तय करती है कि कौन सा पक्ष कितनी मात्रा में कविता में रहेगा । इस गहरी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से गुजरे बिना कोई भी श्रेष्ठ कलात्मक रचना हो ही नहीं सकती । उसकी सार्थकता और परिणति मनुष्य की पक्षधरता जनोन्मुख जीवन मूल्यों और संवेदना के अंतरंग परिष्कार में होती है । यही वह सूत्र है जो मेरी सौंदर्य प्रेम और इतिहास तथा यथार्थ की पिछली रचनाओं को जोडता है और आज तक की रचनाओं में हमेशा मेरे साथ रहा है । शायद इसीलिए मुझे अपनी ही बनाई हुई रचना परिधियों को तोडकर नई अनुभव भूमियो की तलाश में बाहर आना बहुत अच्छा लगता है ।

विक्षिप्तों का जुलूस मैंने सितंबर 1966 में लिखी थी जिसका संबंध उस समय के दो अमानवीय संदर्भों से है जिनका हिंस्र बवंडर विभिन्न कारणों से चारों तरफ उठा हुआ था । पहला वियतनाम के युद्ध की घोर विनाशकता जिसमें सामूहिक नर संहार और पर्यावरण विध्वंस के ऐसे नए रासायनिक हथियारों एवं जलवायु अस्त्रों (weather weapons) तक का इस्तेमाल किया गया जो आगामी अंतरिक्ष युद्ध की तैयारी का परीक्षण जैसा लगता था । उसी के बाद नगरीय गुरिल्ला उग्रवाद (अरबन गुरिल्ला हिंसा) दिशाहीन अराजक युवा विद्रोह अकारण निर्दोषों की हत्याएं, अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद" तोड फोड राजनीतिक हित साधना के लिए हवाई

डकैतियां असबंधित निरपराध समूहों का बंधक बनाया जाना आदि थे । और इन सबके ऊपर पूंजीवादी विकृत व्यावसायिकता से उत्पन्न मादक पदार्थों की अंतर्राष्ट्रीय तस्करी युवाओं को चस्का लगाकर निष्क्रिय बनाने और सामाजिक परिवर्तन विमुख कर देने का षड्यंत्र तथा 'सेक्स परिक्रांति' का उन्माद चारों तरफ उठा हुआ था । एक ओर यह सारी पाशविकता थी दूसरी ओर अपनी समस्त सांस्कृतिक विरासत का विक्षिप्त निषेध था । एक ओर 'सेक्स परिक्रांति' दूसरी ओर 'सांस्कृतिक अतिक्रांति' । एक ओर सेक्स दूसरी ओर हिंसा । मुझे हमेशा लगता रहा कि इन दोनों का केन्द्रीय स्रोत एक ही है —यानी पाशविकता और क्रूरता । ऐसे विकृत मानव विरोधी तरीकों का लक्ष्य आदमी में आदिम जंतु वृत्तियां उभारना होता है और मनुष्य को अपनी सामाजिक न्याय की परिवर्तन प्रक्रिया से हटाकर अमानुषिक बनाना ही होता है ।

इस संकलन में 'काल के कगार से' शीर्षक के अंतर्गत पांच रचनाओं का एक कविता क्रम भी है जिसमें जीवन और मृत्यु के बीच झूलते आसन्न मृत्यु के अनुभवों की अंतर्भूमि व्यक्त हुई है । मैं 1984 में बहुत बीमार हो गया था और मेरा रोग असाध्य बता दिया गया था । तभी मुझे मृत्यु का अकेला आभास हुआ था । इन रचनाओं में अनन्तता 'सूक्ष्मडोर' 'पुनर्जन्म' जैसे कुछ शब्द हैं जिनसे भ्रम हो सकता है कि ये कविताएं शायद किसी नव-रहस्यवाद की ओर उन्मुख हैं । ऐसा बिल्कुल नहीं है । यह हमारी भाषा पर ऐसा पुरातन बोझ है कि उसमें शताब्दियों से अध्यात्मवादी दार्शनिकता की भाषागत तार्किकता तथा चिन्तन की शब्दावली तो बहुत है किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक सत्यों की भाषा नहीं है । जैसे अंतरिक्ष विज्ञान नक्षत्र विज्ञान सूक्ष्म जैविक अनुसधान (माइक्रो बॉयोलाजी) धावित आकाश गगाओं के बनने और मिटने ब्रह्मांडो मे व्याप्त जैविक तरंग के प्रमाणित होते जाने समय और काल की नवीन अवधारणा से उद्घाटित सृष्टि के वस्तु-यथार्थ की भौतिक प्रक्रियाओं और सूक्ष्म विराट की नई गणितीय प्रतिमान मूलक शब्दावली अब भी नहीं है । सृष्टि जीवन और काल के नैरतर्य के जो ठोस वैज्ञानिक प्रमाण मिल रहे है उन्हें व्यक्त करने के लिए लगभग वही शब्द हैं जो प्राचीन दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन में प्रयुक्त किए जाते रहे है । साहित्य और कविता के लिए सृष्टि विज्ञान का यह नया क्षेत्र अब भी अपरिचित और अनाकांक्षित लगता है । इसी कारण इनका प्रवेश साहित्य रचना मे अब तक नहीं हो रहा है । लेकिन जब पर्यावरण विध्वंस हो रहा हो भयानक रूप से प्रदूषण बढ़ रहा हो वनस्पतियों के बड़े पैमाने पर विनाश से जलवायु विकृत हो रही हो समुद्र दूषित हो रहे हों प्रकृति से भारी छेड़ छाड़ की जा रही हो लोग विस्थापित हो रहे हों उन पर नित्य नए संकट टूट रहे हों तब आम आदमी के दुःख और बढ़ते सताप से लेकर पृथ्वी के अस्तित्व तक का स्पष्ट दिखाई देने वाला खतरा मुझे बहुत बेचैन करता है । इसीलिए मेरी इन कविताओ में ये शब्द वास्तविक जीवन के दुःख और सकट से संबधित है । मेरा

वैज्ञानिक मन पौराणिक पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता। शरीर तो यहीं भस्म होकर मिट जाता है लेकिन आदमी की स्मृति और विचार तो रह जाते हैं। वैसे भी आदमी की जिन्दगी का अस्तित्व 10 डिग्री ताप से बहुत छोटी सीमा में होता है। वह एक ऐसी नाजुक परिधि--डोर है जो कभी भी कट सकती है। लेकिन सीमित आयु के बावजूद जिन्दगी की सार्थकता अपनी दुनिया को बेहतर बनाने और भावी पीढ़ियों के लिए कुछ अच्छे सपने छोड़ जाने में ही मैं देखता हूं।

अब ये कवितायें आपके सामने हैं।

गिरिजा कुमार माथुर

बी 3/44 जनकपुरी
नयी दिल्ली
22 अगस्त 1989

क्रम

शब्द जो रोशनी हैं

अब फिर वही से शुरु करता हूं
जहा से चीजो की सही शक्ल
ओझल होना शुरु हो जाती है
अपने ही आसपास बुने हुए जाले मे
नजर डूब जाती है—

छोटी बडी उलझनों के गुत्थीदार अंधेरों मे
भटकते हुए
मैने समझा था
कि दुर्गम पर्वतो से जूझ रहा हूं
हर बार टकराकर
कुछ कदम आगे बढ़ता रहा हूं
पर फिर मैने जाना
कि अंधेरे के पर्वत और बडे होकर
मुझसे बहुत आगे निकल गए हैं
इस शापित व्यवस्था पर
रोम-रोम फैल गए हैं
और मेरे कदम
जहा से चले थे वही रह गए हैं

यह विफलता नही
वक्त की गहरी उदासीनता मे
अकेला हो जाने का अहसास भारी है
उन धडकनो से मिलकर
मँजेगा-मिटेगा
जहा हर मन है कुरुक्षेत्र
युद्ध अभी जारी है—

यह सही है
कि मेरे शब्द के आकाश मे
अब भी अक्सर गरम बिजली कौंध जाती है
हर फरेब की जकडन को
थोडी देर रोशनी मे नगा कर जाती है

मेरे पास सिर्फ शब्द हैं
जो समय के अस्त्र हैं
इन अस्त्रो की धार बचा चमकदार रखना है
क्योकि चारो तरफ आज बडे चालाक शब्द हैं
जो भीतर से जग लगे
बाहर से चुस्त है
उन शब्दो को बेनकाब करना है

उनका तेवर तेज तीखा है
भीतर समझौता है
सुरक्षित कायरता है
असलियत पर मुखौटा है

यह चतुर शब्द
वक्त के मुताबिक करते
अर्थो की चोरिया

पर ऐसे मे कौन रह सकता
आरक्षित है
जब आदमी पर गिरती हो
चौतरफा बिजलिया

मै वक्त के हू सामने
शब्द-दर्पण के सामने
पूरा अपने ही पास हू
यह अकेलापन
एक नये तरह की चुनौती है
जो आदमी को सही नाम देने की
पहिचान मुझे देती है

—इसलिए अब फिर
वही से शुरु करता हू
जहा से चीजों की सही शक्ल
साफ दिखने लग जाती है
जब अपने से बडे दुख की आवाज
शब्द मे उतर आती है ।

[१ मई १९८०]

शब्द का जन्म

—जहा से यह नैनसुख आसमान नीला है
जहा से फिरकनी हवाए बेफिक्र चलती हैं
जहा से यह चुपचाप चन्द्रमा निकलता है
अनाहूत जगल की सुनसान स्याही मे
सितारे बडे-बडे
हाथ-टँके लगते हैं
मिट्टी जहा से तमाम खिडकिया खोलकर
बाहर झाकती है
यो लुभावन फूल खिलते हैं
जहा से पौधे अपनी अलग
पहिचान-गध लेते हैं
—मेरे शब्द वहीं से आते है

वही—
उन अनहोनी जगहो से
जहा से बच्चे को भोला अचभा
सपनो मे बाते बनाती नीद मिलती है
जहा से आखो को जादू
चेहरो को रूप का खिचाव
वक्ष को भराव
आदमी को पौरुष की जुझार आस्था

औरत की बाहों की नरम ऊष्मा
कोख को भिगोता
ममता का द्राक्षा-जल
देह को अनोखा सम्मोहन मिलता है

—मेरे शब्द वही से
तैरते आते है

—जहा से ये बादल
काले कोरे घडे भर लाते है
बिन जताए खाली कर जाते है
जहा से अपने-अपने हिस्से की छायाए बाटकर
पुराने पत्ते
नयो के लिए आसन छोड जाते है
जहा से हर उदासीन मन मे
समय की धार तेज करने की बिजली
सहसा दौड जाती है
इतिहास और चीजो
नीति और प्रणाली को

बासी पड जाने पर
आच पिन्हा जाती है

—उन सारी अज्ञात अद्वितीय
अनाहूत जगहों पर
बदलाव के विचरते
क्राति-दर्शी क्षणो पर
मै पटसन के रेशो सा
साधारण डोरी मे मिल-बटकर पहुचा हू
जब भी, जहा भी ये होते है, होगे

मै वहा-वहा आनत हूं
रोशनी लाने वाले इस समवेत मे
सहज ही समर्पित हू ।

[१७ सितंबर १९७६]

महावृक्ष की पुकार

जब वक्त का अनौखा रथ चमकदार
अकस्मात रुक गया आकर तुम्हारे द्वार
तुम रह गए अवाक
अविश्वास भरी आखो से देखते रहे चकाचौंध
सुनते रहे जयकार
समय की मुडती हिलोर पर
बहकर आया हुआ
निर्णय का स्वर्ण मुकुट अनायास
चकरा कर घूम गई धरती
तुम्हारे आसपास

मुग्ध देखते ही रहे
ज्वार की अपार फेन-चूडा पर उठा हुआ
अमृत घट
वक्त का रथ जो तुम्हारे लिए लाया था
- तुमने उस लिया नही
बाटकर पिया नही

जब एक अकल्पित अनहोनी दिशा से
सन्नाटा फैलाता तूफान आया था
दमघोट अधकार चारों तरफ छाया था



तुम्हारी अलग अलग नावे
लोप हुई थी झपट टूटते कुहासो मे
लोगो ने तब एक बडा दीपक जलाया था
तूफान चीरता, पथ को दिखाता
जो किनारे तुम्हें लाया था—

भूलकर भूमिका
भूलकर चारो ओर छाई विभीषिका
तुम वह अजूबा सबको दिखाने लगे
इस हाथ उस हाथ
आपस मे दीपक छीनने बुझाने लगे
और गहरे नैराश्य गर्त मे
लोग समाने लगे

-वह चिराग चौमुख कर
लोगो को तुमने दिया नही

रोशनी पर धूल पडी
चादना हुआ नही—

देखो, वह ताजी खुली गध-हवा
वही थी जो इस विशाल वृक्ष पर
पडने लगी है मन्द
उलटी बयार में
एक एक गलत कदम
पराघोर चक्रमित बगूला बना जाता है
उलझ रही
जूझ रहीं आपस मे डालियां,
झौरों से झौरे
पत्तो से पत्ते

तिनकों से छुद्र तिनके
जल रहे असहाय विपन्न नीड
फट रहे चिन्दियों से फल-फूल
फूट रहें भरे-भरे मधुकोप-
वृक्ष का शरीर
जिंदा लोथड़ों में फट कर
उछट उछट जाता है

-धूल और धक्कड़ में
भन्नाती निकल पड़ी रक्त-सोख मक्खियां
निर्द्वंद्व घूमते हैं सीना तान हिंस्र जन्तु
घात लगा खड़े हर तरफ क्रूर बटमार
कापते हैं निर्दोष
दमखुश्क घर-द्वार—

ओ, असमाप्त पुरा-पीड़ा के इतिहास
ऐसा क्यों होता है
हर बार वक्त नया आसन बिछाता है
हर तरु के नीचे आ
हर बार
बीड़ा उठाने वाला बौना हो जाता है

या है लक्ष्य थोथे
झूठे शब्दों के अंबार
या मन को ग्रस लेता सत्ता का अहंकार
या कच्चा रह जाता
प्रतिमा का आकार
या इस तेज-तरु के प्रतिमान बहुत दुर्निवार
जन्म-बीज में जिसके बैठे सूर्य चमकदार

- अडिग महावृक्ष अभी करता है इन्तजार
माथे पर अनुभव की तेजस्वी रेखाए
देख रही धारावाही त्रिकाल
देख रही
इस अखड वृक्ष का किसे है ख्याल—
शीश जिसका खुद ही है आकाश
जडो मे जमी बैठी हैं अनगिन शताब्दिया
मनवन्तर बन गए जिसके छाल की सुवास
छाया के छत्रक मे
सस्कृति की जगमग नक्षत्र-माल
ममता बनी गगा
तप जिसका दिपनार हिमवान
मोरपख मैदान
विध्या लालिम हिरण्य
नीलगिरि धीरज का अलख ध्यान
रँगोली वन, प्रान्तर गाव, खेत, खलिहान
सतिए पर अक्षत सी सन्तान—

उठ रही इस औघड तरु से
मौन काल की पुकार
छाया भोगने वालो होशियार ।
यह सब तुम पर निछावर किया हर वार
किन्तु वक्त करता नही किसी का भी इन्तजार

समय का रथ ज्यादा रुक नही पाता है
रखा-रखा अमृत भी विष बन जाता है
चूका हुआ क्षण कभी वापिस नही आता है ।

[२२नवम्बर १९७८]

खोए वर्तमान की तलाश

कितना बदल गया है समय
फिर भी लोग समय से बाहर जी रहे हैं
आदमी रोशनी से बाहर छूट गया है
और आज का वक्त
बिन बदले अतीत सा रुका है
यह किसी बीते वक्त की
सुहानी गृह-गंध नहीं
क्रूर वर्तमान है
जिसे हम याद रखना नहीं चाहते
लेकिन मजबूर हैं ।

—अब मौसम नहीं बदलते
सिर्फ घूम-फिरकर फिर वहीं
वापिस आ जाते हैं
जैसे अब हर साल
कोई एक खास नाम का साल होता है
उसे मनना है
मनता है ।

व्यक्ति सुख की रंगीन ऊंचाईयों में डूबे
समर्थ, आश्वस्त लोग
दिलासा दिलाते हैं

कि मौसम बदलते हैं ।
उनके लिए अभी आम रास्ते खुले हैं
और हम मान लेते हैं

यह जानते हुए भी–
कि हवाएँ चिडचिडी हो गई हैं
धूप सुबह से शाम तक
मुह फुलाए हुए फिरती है
हर सार्वजनिक जगह गुर्राती है
पत्ते झरने से इनकार करते हैं
बच्ची-पत्तियाँ पक कर पीली निकलती है
आसमान–
ऊचे आसन पर विराजे
किसी खास आदमी सा
कभी पास लगता है
कभी दूर हो जाता है
और बेवक्त का बादल
मेरे भीतर
अपने ही हाल पर आसू बहाता है ।

ऐसे रुके वक्त मे
हर बार शोर मचा
फिर भूल जाते लोगो मे
लगता है कही कोई मर्म केन्द्र
अन्तकरण अहसास
पूरा मर गया है
इस उदास मौसम मे
चारो तरफ लकवे मारे चेहरे सी
वस्तुए ही वस्तुए हैं

खतरनाक वस्तुएं
शक्लें बदलती हुईं

विश्वसनीय शायद अब सिर्फ घास है
रुंधकर भी जिंदा है
चिड़ियों वाला गाता हुआ पेड़ है
रुहट जैसे बादल हैं
निष्कपट बच्चे हैं
या वह मामूली लोग
जो बिवाई-फटी खरहरी जमीन पर
किसी भी सड़क के किनारे
पेड़ तले
गठरी बने बैठे हैं
ठीक इसी तरह वर्षों से—

—वर्षों से
या सदियों से ?

सदियां मैंने देखी नहीं—
कैसे कहूं सुनी बात
कुछ भी बताता नहीं इतिहास
उसमें वे नहीं हैं

—उनके लिए उठाए
तमाम शोर के बाद
उनके आसपास
न बदलने वाली चीजों की है पशु-गंधी
—शाक-रात

पीड़ा की कोई भाषा नहीं होती
एक असहनीय प्रश्न होता है

अंधेरी सुरंग सा
जिसमे साँस नही आती है
जिसके किसी दूर अगले मुहाने पर
फिर फूलो के अँगोछे पुछा आसमान आता है
सद मौसम के पानी मे
वक्त पूरा नहाकर निरमैल हो जाता है ।

[२० मार्च १९८१]

शब्दों के कंकाल

शब्द शब्द, शब्द—
मन की हजार पर्तों मे
वर्तमान से भगोड़े
टूटे-फूटे इतिहास ने
जो सदियो से गहरे मे गाड़ कर बिठाया है
वह सत्व नही
छाया है,
वस्तु नही
प्रतीक है,
एक साथ विरोधी अर्थ देता पर्याय है,
संज्ञा नही
सर्वनाम है,
कर्महीन नाम है ।

शब्द, शब्द, शब्द—

हमारे लिये हर चीज
सिर्फ एक शब्द है
शून्य आदि शब्द है
ब्रहमांड महाशब्द है,
आकाश शब्द है

शब्द स्वय ब्रह्म है,
जगत एक भ्रम है

हम बिल्कुल अनासक्त है
चाहे कितने ही लिप्त है,
क्योकि यह तो ससार है ।
कितना शुद्ध यह विचार है
जो कहे और करे और
वही समझदार है ।

शब्द, शब्द शब्द—

हम शब्दो के साधक है,
यथावत् के आराधक हैं
हम शब्द बोल-बोल कर
खुश बहुत होते है
कौल भरते चुप रहने का
फिर घटे भर रोते हैं

यह आप्त और महान शब्द,
दर्शन और ज्ञान शब्द,
शिक्षा, विज्ञान शब्द,
तत्र और ध्यान शब्द,
ह्रीग-श्रीग-फटट शब्द
पूरी मशीन ठप्प —

शब्द रस है
रस-ध्वनि है
ध्वनि जितनी ही विकट है
जितनी वाचिक निरी गद्य है

रूखा विवरण है, रपट है
उतना ही बड़ा जस है,
उतना ऊंचा साहित्य है
ऊंचा विचार है
उतना ऊंचा पुरस्कार है.
मठ के तिलक-छापे बिना
हर लेखन बकवास है ।

शब्द, शब्द, शब्द ।।

राजनीति शब्द है,
लोकतन्त्र शब्द है,
समाजवाद शब्द है
अफसर और बाबू बीच घपले पड़ा शब्द है,
बीच मे टपक पड़ा जातिवाद
नये भाड़ भूना

लट्ठ-मार्का गिरोहवाद
पुल्टिस से पकाया हुआ जहरवाद

शब्द जिसे गड़ा है
जातिवाद घधा है
गोत और बिरादरी
पथ, प्रान्त भाषा का
मुस्तड़ा व्यापार
देश के भविष्य को
छोड़ दिया मझधार—

एक शब्द बलात्कार है
एक शब्द ग्राम-दाह है,

एक शब्द भूमिहीना कराह है,
वधू-हत्या आत्महत्या है
जुर्म हत्या दुर्घटना है
दुर्घटना एक शब्द है
शब्द माने ध्वनि
इस कान उस कान
सुनी-निकली आवाज,
होती-रहती आवाज है ।

ढेर आबादी जनता हुआ
देश यह बडा है
चिकना सा घडा है,
होता चले कुछ भी
हमे क्या पडा है—

नसो मे लाल पानी है
बूढी जन्म से जवानी है,
सब ठीक है, सब बुरा है
शब्दो मे क्या धरा है ।

झूठ, इस्तेमाली शब्द है
चरित्र, खूसट शब्द है
समाज नेता-शब्द है,
देश, नक्शे-वाला शब्द है
आदमी पता नही
कितने शब्दो का अर्थ है ।

नही
अब वह शब्द नही चाहिए
जो होता है सामने उसे झूठ बतलाते है

जो होता नहीं है उसका आसरा दिलाते हैं,
असलियत को तुच्छ मान
आत्म-दर्शन सिखाते है,
जो जैसा है वैसा ही रहे
इसी लक्ष्य को बढ़ाते हैं—

उन शब्दों को खामोश होने दो
सार्वजनिक दर्द को
नयी आंच पहिन लेने दो ।

[१६ जुलाई १९८०]

भटका हुआ कारवां

उन पर क्या विश्वास, जिन्हें है अपने पर विश्वास नही
वे क्या दिशा दिखाएगे, दिखता जिनको आकाश नही

बहुत बडे सतरगे नक्शे पर
वहुत बडी शतरंज बिछी
धब्बो वाली चादर जिसकी
कटी फटी, टेढ़ी, तिरछी
जुटे हुए है वही खिलाडी
चाल वही सकल्प वही
सबके वही पियादे-फर्जी
कोई नया विकल्प नही

चढा खेल का नशा इन्हे, दुनिया का होश-हवास
दर्द बटाएगे क्या जिनको अपने से अवकाश नही

एक बाझ वर्जित प्रदेश मे
पहुच गई जीवन-धारा
भटक रहा लाचार कारवा
लुटा-पिटा दर-दर मारा
बिक्री को तैयार खडा
हर दरवाजे झुकने वाला

अदल-बदल कर पहिन रहा है
खोटे सिक्कों की माला

इन्हें शब्द से ज्यादा दुख का है कोई अहसास नही
अपनी सुख-सुविधा के आगे, कोई और तलाश नही

खत्म हुई पहचान सभी की
अजब वक्त यह आया है
सत्य झूठ का व्यर्थ झमेला
सबने खूब मिटाया है
जातिवाद का जहर किसी ने
घर-घर मे फैलाया है
वर्तमान है वृद्ध
भविष्यत आने से कतराया है
उठती हैं तूफानी लहरें, तट का है आभास नही,
पृथ्वी है, सागर, सूरज है, लेकिन अभी प्रकाश नही !

[१ दिसंबर १९७९]

अंधेरे का विदूषक

हर धड़कते एकान्त मे
जाने कहा से चुपचाप आकर
पीछे एक पिशाच खड़ा हो जाता है
कापकर कनखियो से देखते ही
कानो तक कढी लम्बी खीसे
बन्द करता हुआ
बिना दिखे गायब हो जाता है

वह बार बार अकेले मे
क्या आ जाता है ।

देह से निकले हुए धुए-सा
हर रात का
बटा हुआ अधेरा
एक गाठ-वाला सिर
जाने कैसे बन जाता है
जिसे देखकर
देह से और अधेरा बाहर आता है

हर दीवार की
पुताई के नीचे से

कभी छोटा
कभी बड़ा एक चेहरा उभर आता है
और कंकाल की गड्ढेदार आंखों में
बदल जाता है

हर यात्रा से पहले
पूरी दुर्घटना दिख जाती है
हर ग्रास में
एक अशुभ बाल निकल आता है
हर चीज़ पर
विष का लाल लेबिल चिपकता है
हर बात के बीच
एक प्रेत बोल जाता है

यह क्या है
जो हर घटना के अंधेरे कोने में छिपा है
मेरे आसपास
गुप्त कातिल सा चलता है
और खिल्ली उड़ाता है
एक डरावना विद्रूप
हर जीवित क्षण में
एक मरे हुए क्षण को
और मार जाता है ।

[जनवरी १९६७]

विक्षिप्तों का जुलूस

सड़को पर घूम रही है उन्मादी भीड़े
चिल्लाता आता है विक्षिप्तो का भारी जुलूस
बकता हुआ घिनौनी गालियां
घनघोर बर्राते मैगाफोनो से
अब कोई और बात नही सुन पड़ती
सभी शब्द डूब गये हैं
नफरत भरी भाषा मे

आता है विक्षिप्तो का जुलूस
निरपराध लोगो को मारता
गृहस्थो के चेहरे पर
थूकता
घर-चौके तोड़ता
भीतर का हिंस्र जमा-वमन उगलता
पशु सा खड़े खड़े
मूत्र और विष्टा
मन की निकालता

सैकड़ो सदियो की दुर्गन्ध भरे
नाबदानो की
नखूनो से खुरच कर

बिलबिलाते कीड़ों वाली कीचड़
खोबों में भरकर सानता
लड्डू बनाता
फेंक रहा आक्रामक लोटे
दोनों तरफ खड़े लोगों पर
कपड़ों पर
अवाक् खुले चेहरों पर
अब तक सभ्य कहलाने वाली दुनिया पर

मदक, वीर्य, कटे भ्रूण
एल-एस-डी, हेरोइन
पागलपन, सा‍क,
हत्या के सने
ड्रम लिए
लीप रहा सड़कें, गलियां, मकान अस्पताल
विद्यालय, पूजाघर, संस्थान
दफ्तर और बाजार
थियेटर और अखबार

दोनों तरफ लोग
स्तम्भित खड़े हैं
सदियों से सीखी लज्जाओं से गड़े हुए
संस्कारों के कुलीन
भयभीत असमंजस में
नंगी मर्यादाएं हाथों से छिपाती हैं
जुल अन
मीन मैल
जुम हुआ जाता—

वढ रहा है विक्षिप्तों का जुलूस
जोश से
पथराव करता हुआ
फेंकता है ईटें
तोडता है भवनो के शीशे दरवाजे
तमाम उपलब्धियों की मेहराबे
लेटता है ट्रैफिक के आगे
उलटता बसे, कारें
हिलाकर उखाडता
सदियो से लगी प्रतिमाए
रोशनी के खम्भे
आख के झपकते इशारो से
चौराहे नियन्त्रित करती लाल-हरी बत्तियां
पोत देता दीवारे
गजो लम्बे नारो, इश्तिहारो से
ताजे खानो से महकते
भीडो भरे रेस्तरा मे
उडेल देता घूरो के टीन
फेंक देता ग्रेनेड
रख देता टाइमबम
भरे बाजारो मे, ट्रेनो, वायुयानो मे
भून देता गोलियो से सडक चलते लोगो को
बेखबर बच्चो को, औरतो को, बूढो को
फूंक देता तेल-पैट्रोल के जखीरे
पानी की टंकियो मे
छोडता है हैजे के कीटाणु
गावो कस्बो मे जहरीली गैस
माताओ की काट लेता छातिया

क्योंकि नंगापन पुराना है
एक साथ करता है बलात्कार
गर्भिणियों, वृद्धियो, बच्चियो से
होलियां जलती हैं विशाल
दो हजार साल के
बूढ़े ग्रन्थ जलते हैं
सारे दर्शन, चिन्तन, साहित्य, काव्य
पुराना ज्ञान अपराधी
धधक कर राख होती है
पूरी निशानी इतिहास की

दोनों तरफ लोग
स्तंभित खड़े हैं
गड़े हुए ग्लानि से, त्रास से
भागती मर्यादाएं छिपाती हैं
जलते हुए गुप्त अंग
ढंका हुआ नंगापन

एक यौन क्रान्ति
एक सांस्कृतिक क्रान्ति
गुफाओं और जंगलों में
आदमी की वापिसी
जानवर की गंध
बीसवीं सदी का अन्त

नहीं कुछ पाना है
नहीं कुछ अन्तरंग
नहीं कुछ प्रिय है अब
नहीं कुछ मेरा स्मरणीय आत्मीय

मास के फड़कते गट्ठर उठाए
पीड़ितो की वहशी फौज एक
नाश की वीभत्सता के चरम अश्लील क्षण मे
फाड कर तिथियो की झिल्लिया
समाती चली जाती है
भावी के गर्भ-रहित छेद मे

एक यौन क्रान्ति
एक सास्कृतिक क्रान्ति
गुफाओ और वनखण्डो मे
फिर आदमी की वापिसी
फिर जानवर की गन्ध

बीसवी सदी का अन्त ।

[२४ सितबर १९६६]

अपनी पीढ़ी से सवाल

और कब तक मैं देखूं ।

यह स्याह जर्द चेहरे
यह चलते हुए मुर्दों की
अटूटी कतारें
यह चिपके हुए पेट
पुश्त पंजरों के खोखले
ये भूख से फटी हुई
बेजुबान आंखें
ये मिमियाते ओंठ
सभी शब्द जहां सूख गए
ये जन्मते ही मंगतों की
लाल लाल पातें
यह झुग्गियों की किस्मत
भिनकती हुई गलियां
जिनकी बीमार कोख
मच्छरों सी उगलती है
,व्याधित सन्तानें

ये कदमरे ढोरों से रहते हुए आदमी
मुर्दा जिन्दगी सी औरतें

मातृत्व की मशीन सी
हर मास दस लाख पाव
जिनके बद सभी रास्ते
हर वर्ष नए करोड हाथ
जन्मने को धिक्कारते

यह व्यवस्था है कौन सी
जो इस सबसे उपराम है
जहा जीने का मतलब
मरने का इन्तजार है

---और कब तक मै देखू
---और कब तक मै भोगू

ओ लुजे भविष्य के
अभद्र निर्माताओ ।
हर मिनट तुम करते हो
हत्या इतिहास की—
ओ, पीढी चरित्रहीन ।
पत्थर पर जिबह होता समय है डकारता
कि आत्मा मे तुम्हारे
एक फूटा टीन था
नसो मे उधार लिया पानी था
न खून था
दिमाग मे एक गिरगिट
सकल्प रंगी केंचुल
जबान की जगह एक मरा हुआ चमडा
जो जैसा हिलवाता था वैसा ही हिलता था

हर मूल्य थोक बिकते
बाजारु सामान थे

सब भाषा बेकार थी
सब मतलब थे दोगले
सब शब्द एक साथ
दुहरे अर्थों को बोलते

यह कैसा विचित्र दृश्य मैं चारों तरफ देखता
जो मुजरिम है खुद जुर्म दूसरों पर थोपता
हर एक अपनी अपनी ओछी सीढ़ी लिए घूमता
दीवार पर तिकड़म से
चढ़ने की जगह ढूँढ़ता ।

ओ, आते हुए समय,
तुम्हें अर्पित करूँ कैसे
ये पोले विद्रोही
ये आश्वस्त बूढ़े
ये भूखों की भीड़ें
प्रदर्शन और घेरे
ये इलाही हक मांगते
गरीबों के रेले
जिन्हें बदले में मिलते हैं
या डंडे या दिलासे,
ये बेकार नौजवान
हर द्वार से दुतकारे
ये कीमतों की सुरसा
दुष्ट मौज करते सारे
हर नियमों पर भार
नए चोर दरबारे—

क्या नहीं यह दुनिया है जिसे सपनों सा हम मान दें
यह समय है क्या जिसे दर्जा हम अपना दें ?

क्या देंगे यह विरासत
हम उगते इतिहास को
कि आती सन्तानें
खाएं भूख, पिएं प्यास को—

क्या तुम तक पहुंचती है मेरी आवाज़ !
क्या तुम तक पहुंचती है—
यह इतिहास की
आग ?

{अप्रैल १९७२}

उनका संकट

बंद करो
सारे खिड़की दरवाज़े
रोशनदान, कुंडी, ताले

हमें धूप से खतरा है
हमें पुरानी हवेली की महफ़ूज़ साँस प्यारी है

मूंदो
सड़कों पर पलती
बेफ़िक्र हवाओं को
हमारी पुश्तैनी गंध का गला घुटा आता है

रोको
नदी में आते
नए अर्राते पानी को
हमारे मौरूसी पोखर की
मेंड़ बही जाती है

दूर देश के मुसाफ़िरो
[illegible] आँखों में [illegible]
[illegible] का [illegible] को
हमारे [illegible] का पुराना [illegible] जाता है

मुह सिल-दो
इन निर्भय असहमत आवाजों का
हमारा छेदोदार फ्रेम
खुद सीटियां बजाता है

अब आप ही बताइए—
धूप, हवा, नदी, आग
आदमी की आवाज
इतिहास के कोठार मे
कैसे बाधी जायगी
समय के गोदाम मे
कब तक मुहरबद की जायगी ?

[१५ अगस्त १९६९]

जलते प्रश्न

जगमग होते कलश-कंगूरे
रंगों की झरती बरसात
चमक चंदोवे कंगनों पहने
खुश है राजनगर की रात

खुश हैं हम भी—
पर फिर दिखते
वे उदास चेहरे गुमनाम
दूर टिमटिमाते गाँवों में
उठ आते हैं दर्द तमाम

खुश हैं हम—
है खुशी न माया
अग्नि परीक्षा में हर बार
बिना ठोस सामाजिक गति के
नहीं मिटेगा हाहाकार

वही पूर्णिमा, वही सामने
नई, रात पर खिले गुलाब
नई रश्मि लेकर अब उजाला
साथ नहीं है यह जवाब—

सोच रहा हूं—
क्या आजादी है मेले-ठेले का नाम
सिर्फ तमाशा है परेड का ?
सजी झांकियों का अभिराम ?

आजादी का अर्थ, न कुर्सी
बंगला, अमला या धन-धाम
रौब-दौब, भाषण, मालाए
परमिट, तमगे, और इनाम

यह न तस्करो की आजादी
दो नम्बर दुनिया बदनाम
जात-पात की धक्काशाही
फूट, लूट, हत्या, कुहराम

टक्कर खाते आम आदमी
हर कागज पर लिक्खा दाम
बिना चढ़ावे के न सरकता
एक इंच भी - पहिया जाम

क्यों है अब हर चीज बिकाऊ
शुद्ध न कोई कारोबार
यह मशीन चीकट काजल से
बड़ी सफाई है दरकार

माना बदला है काफी कुछ
तेज नहीं लेकिन रफ्तार
रक्षित जन हो, दुष्ट दमन हो
समय शक्ति फिर रही पुकार

गूंज रहे मेरे शब्दों में
सब कुछ सहते कंठ अपार
मेरी कविता के दर्पण मे
झांक रहा असली संसार ।

[20 जनवरी १९८५]

नए बीज का जन्म

बहुत दिन पहले
मैने एक ललछौंहा बीज
गहरे मे बोया था—

मन मे तड़प थी—
हवा मे घुटन थी—
वक्त मे तपन थी—

हाथ-पैर मारते
जिंदगी के शोर मे
भूल गया मै उस
अछूते लालिम बीज को
बीज बीच छुपी
नई जिंदगी की आंच को—

बढ़ता दबाव था
गरमी थी ताप था—
बिना चीख वाला सन्नाटा था
मेरे हर रोए को
ततैयो ने काटा था

अंधाधुंध मिट्टी तपी
बर्छों-सी आग गिरी
तब बीज करका—
जमी सतह दरकी
तोड़ हर दबाव
नन्हीं आसें उगीं
छोटा तना फूटा
सिर ऊंचा ताने
नई पौध निकली—

एक छोटी तिनगी
दो नन्हें पत्ते
फिर और पत्ते
पैर धर—
धूप की-सीढ़ियां-सी चढ़ते

इस नए जन्म पर
बदले हुए रंग पर
आता वक्त
ताशे-नगाड़े बजाता है
मिट्टी का बीज का
ताप का, दबाव का
लगता है गहरे में
औरस एक नाता है ।

[२४ दिसम्बर १९७०]

ये मिट्टी केसर है

सुनो ।
वक्त के विराट गुम्बद से
आती है फिर काल-वेधी एक आवाज
सदियो की दूरी से
घटना के पास से
हमने क्यो सबक नही सीखा इतिहास से--

यह सावली सलोनी मिट्टी
जिससे हम जन्मे हैं
रंगो मे फूले है
बेलो से फैले है
मामूली मिट्टी नही
केसर है
एक बडे नायाब इतिहास फूल की--

हमारी अजलि मे
रखा है जो अमृत घट
सौंपा है
एक-एक तपी हुई पीढ़ी ने
अपने आशीष सा--

देखो--
अनझर इस कमल की

कोई पंखुरी बिखेरे ना
बूंद-बूंद भरे इस संस्कृति कलश में
जहर कोई घोले ना—

क्यों भूल जाते हम—
जब-जब हुई है आपस की खींचतान
ईर्ष्या, जलन, गरूर, झूठा दर्प, अभिमान
आया है बाहर से हमलावर हैवान
धरती हुई है लहू लुहान
शीश झुकाए हुए
रहे हम पछताते
सहते हुए सदियों तक अपमान—

सदियों बाद मिला हमें
एक खुला आसमान
एक बड़ा
दूर तक फैला हुआ आसमान—
अच्छी बुरी कुछ भी सही
किसी की नहीं रखैल
यह जो सिर्फ भूमि नहीं
सब कुछ बदलने की इच्छा है मूर्तिमान—

ये जो भी सीमा या सिंधु पार
इस पूंजी प्रभुता का करते रहते प्रचार
करते हैं युद्ध मृत्यु अकाल का व्यापार
हमारी शांति मुक्ति
[illegible] [illegible] से बचाव
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
झुकें, अगर [illegible] [illegible] नहीं
[illegible] [illegible] [illegible]

कोई देश या समाज—
चाहते हैं खड़ी रहे
फूटा कटोरा लिए
दुनिया भर उनके द्वार—
सुनो, जरा होशियार
मोड़ ले रहा है आज इतिहास
साफ है दिशा अपनी
साफ है अगला कगार
छूटे नहीं आपसी भरोसे की पतवार
गुड़हल सा खुला द्वार ।

[२२ नवम्बर १९८४]

इतिहास का पूर्वाभास

(तीन जून १९४७)

यह असाढ़ का गरम घुप घुआ मौसम
है तीन जून की रात
धूल है आसमान में जमी हुई
है बंद हवा
है रुंधी दिशा
सूखी मिट्टी की बास आ रही है तीखी
सड़कों की बत्ती लाल रंग की दिखती है
जिनके नीचे अविरल ट्रैफिक चलता जाता
दुनिया भर से बेखबर ।
सामने जलते फुटपाथों के ऊपर
लोग जमा हैं
सुनने और समझने अपने नये भाग्य को
आज शाम ही से घर घर में खुले रेडियो
बेचैनी से—
हॉकर हैं आवाज लगाते
ताज सप्लीमेंट पेपर अखबारों के—
सुर्खी काली हैड लाइनें चीख रही हैं
बटवारा हो गया देश का
पाकिस्तान बन गया आखिर
और हो गया टुकड़े हिन्दुस्तान पुराना ।

आज उपनिवेशिक स्वराज्य हमने पाया है
हिन्दू और मुसलमानों ने
अपने हाथ खून से रंगकर
लाखों घर उजाड़कर
कस्बे, शहर जला कर
पागल हो नारी के ऊपर ।
एक ओर हत्या से उठकर
नया देश बाहर आया है—
और दूसरी ओर अहिंसा के सागर से
टूटा मोती मिल पाया है—
आज लड़ाई आजादी की
एक नई मंजिल पर आकर ठहर गई है
किन्तु शेष है अभी आखिरी मंजिल पाना ।

रात बढ़ चुकी है अब काफी
खबरें सारी खत्म हो चुकी
और रेडियो बंद हुए हैं
आसमान में अंधकार का पर्दा गिरता
मंद पड़ गई तेज चांदनी
आधा चांद स्याह पड़कर हो गया अधूरा
क्योंकि आज इस आसमान में
इस धरती पर
चन्द्र ग्रहण लग गया सांवला ।

याद आ रहे वे सारे वक्तव्य शांति के
और अपीलें लंबी चौड़ी
और साथ ही लौह धमकियां, रेजोल्यूशन
शब्द शब्द वे आडंबर के
वर्ना क्या मुंह मांगा पाकर
बुझती नहीं शहर गांवों में जलती आगें—

आंखों के आगे वे क्षितिज धरातल उठते,
जिनपर जलते बुझते घर दिखलाई देते
छोटे कस्बे, नगर, प्रांत की राजधानियां
भयकातर वह छायाओं सी भीड़ भागती
पैदल, सड़कों पर, रेलों में
अपने सब घर द्वार छोड़कर
और भूलकर अपने उन प्रियजन मित्रों को
दबे रह गए जो ईंटों के जले ढेर में ।

ये सच्ची तसवीरें बनती और बिगड़ती
सोच रहा हूं क्या परिवर्तन यों ही होता
ऐसे ही होता है क्या निर्माण राष्ट्र का—
मानव के निर्दोष खून से ।
शायद आने वाले दिन ज्यादा अच्छे हों
संभव है यह अंधियारा आगे मिट जाए—
यह प्रयोग निज महानाश का
आज सफल होकर फिर कल असफल हो जाए
और आज के टूटे धागे मिल जाएं फिर
एक सत्य पर गांठ लगाकर
समझ सकें हैं अपना असली शत्रु कौन सा ।

किन्तु अभी तो महापर्व यह शुरू हुआ है—
अभी भयंकर प्रेत खड़े होने वाले हैं
जो इस फूली फली धरा को
टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे-
जिससे केंद्रित हो न सकेगी शक्ति कभी भी
और लड़ाई आजादी की
रह जाएगी सदा अधूरी

और शाप 'बेबेल' का टूट पडेगा हम पर
यादव के वशज सा अतिम शाप भयानक ।

टूट गया वह अतिम कोना स्याह चाद का
और टूटता सा मन मेरा चौंक पडा है—
आखों के आगे फिर नए क्षितिज उठते हैं
जिन पर आती दिखती एक नई मानवता
धरती का वह पुत्र
नया इसान नया उजयाला लेकर ।
आखो के ये क्षितिज और भी तेज हो रहे
और अधिक उज्जवल चमकीले
क्योकि आज मे देख रहा हू
इस भीषण जन-मथन मे से
मिट्टी से उठ कर नवीन इसान आ रहा ।

[३ जून १९४६]

[भारत के विभाजन की घोषणा पर उसी रात लखनऊ में लिखी पुरानी असकलित कविता जिसमें ४३ वर्ष पहले उस समय के भविष्य और आज के वर्तमान परिदृश्य का पूर्वाभास मुझे स्पष्ट दिखाई दे गया था । उस रात पूरा चद्र ग्रहण भी लगा था। यह कविता आज की स्थिति में भी सार्थक है इसीलिए यहां दी जा रही है]

ये अक्षर वैश्वानर

नहीं सुने जायं आज
नहीं सही ।
ये मेरे काल शब्द
नब्ज़ों में बजती
तमाम पीड़ाओं के साथ हैं
साथ चले जाएंगे
कम से कम
याद तो करोगे ही
उस निष्पक्ष अ-भेद, खोयी हुई दुनिया की
उजली
जो मेरे बाद आयत्त आएंगे—

नहीं याद रहे नाम
नहीं सही ।
समय की वेदीका
अक्सर किसी कभी पर
अनगिनत नाम हैं
कहीं, रोशन अक्षर
कहीं रेतों में सिमटे
धुंध हुए टीले हैं—

एक नगण्य नाम वहां
नही रहे
नही सही
कुछ भी कमी होगी नही
जगह खाली होगी नहीं
मामूली लोगो की इकहरी दुनियां में
कुछ भी अद्वितीय नही
मामूली होना ही
अद्वितीय होना है—
धूल जो धूप मे चमकती है
वही धूल सोना है—

सपनो मे डूबी
खोए घर की प्रिय तस्वीर
नही बनी
नही सही
ये जो अनायास शब्द
मुझे मिले
बहुत मिले,
जहां जहां खाली हुआ
धसकी जमीन
दृष्टि चूकी
देह हारी
सारे दुखते कटाव, घाव, दर्रे
ये पूर गए
ये मनमुक्त, कान्त, अन्तरंग सृष्टि है
आजाद जन हैं
किसी की प्रजा नही
साक्षी हैं पारझीनी छबियो के
छोटे आनदो के

ज्यादातर दुख ये, अकेले अहसास के
काले हाशियों के एक कोने में जलते
उम्र के इस चिराग ये

ये नहीं है कोरी आवाज
जिन्दा स्पर्श है
हाथों में ऊष्म हाथ डाले
दिलासे है
मुफ्त, मगर मूल्यवान
आदमी की जबरदस्त
आत्मीय पहचान—

इतने सहज निर्व्याज
जैसे सहज है घास
हर बार रौंदी जाती है
हर बार उग आती है—
जैसे सहज है आसमान
जो किवाड़ों को खोलकर
भीतर पहुँच जाता है—
जैसे सहज है हवा
जिसका अपना न दमा
जिसे रोकना
है आँधी को बाँधना
फिर वह बहती न थमा—
यहाँ इतने सुभाषा
न तो अच्छा और बुरा

मैं स्वस्थ हूँ गाढ़ी कमाई
कहीं गले में सुखोई रोशनाई
सन्दूक अनुभव

एक लिपि है लिखावट है उनकी
जो लिखते नही
यह सब जीते है

वह लिपिया पढ़ी जाए नही
—नही सही
मैने समवेत धारा में छोड दिए
ये अक्षर वैश्वानर
लिखेगे अनागत के
निर्मल आकाश पर
जो बात आज
शिविर-बद्ध शोर मे
अधूरी, अनसुनी रही ।

[११ अगस्त १९८०]

अनाम लहर का गीत

लहर को न दो कोई नाम
उसे गुमनाम रहने दो–
पल भर को है तट पर विश्राम
उसे सागर में जाने दो
बहने दो–

सागर है अपार
सारी इच्छाओं का काल-वेधी विस्तार
घूम फिर कर मिल जाती
हर नदी की नीर धार
वन, फूल मणि उपल
दून घाटियाँ, पठार
दूर की यात्रा दुर्निवार

मौन देश दे उसे उठान
मौन ही विराम रहने दो–

[illegible] के [illegible] [illegible] पहले जितना
[illegible], [illegible] [illegible] में [illegible]
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] में,
[illegible] लहर का [illegible] में,

थी खुली वह महक वह मिठास
जहा सब कुछ विमुख था
मजिले थी उदास
कभी बनकर लहर, कभी छवि, गध, उल्लास—
ममता, विश्वास
भरी उसने सदा
जिदगी के अकेले सफर मे सुवास—

कालिमा की जगह
फागुनी बौर की गंध-मादन ऋचा
शीत की धूजती झुर्रियो मे भरी
सोलहवे साल की
तग पड़ते वसन से मचलती विभा

ग्रीष्म के ताप मे
वक्ष की चादनी
ओठ के गुलमोहर
देह की झील मे
प्यार वाली लहर—

बस्तियों मे शहर की भटकते थके
गाव घर लौट आसाढ़ को ज्यो मिले
बिजलियो अग की
गूजरी सी घटा
बाह मे दौड आती
हवा सी प्रिया—
जब शरद धो चुके दूब आकाश को
लाल खुलती कली, वेधते कास को
जब चमेली बने देह कोजागरी
जीतले मोह हर बार सन्यास को

भोर के शीत मे धूपसी जो खिले
रात मे दीप की ऊष्मा सी मिले
धीर अगहन-फसल, असलियत मे पकी
एक गृहिणी अजित-मन
लहर सी चले

वर्ष सारे हुए भेंट
दुख त्रास के—
काल ने चुन लिए फूल कुछ सास के
हर कदम जूझने पर भरोसा रहा
दो कदम दिन रहे और मधुमास के

असलियत क्रूर थी, क्रूर होती गई
प्रश्न गहरा गए, रोशनी कम हुई
सोचकर जो चले वह न नक्शा बना
वक्त की चाल
हर साल मद्धिम हुई

इस तरह उम्र भर
चुन लिए राह पर
आच, आसू अधिकतर
जरा सी खुशी
कष्ट, अपमान, अवहेलना, बेबसी
आख के सामने रोज छिनती रही
हर कदम जो बची
पोर भर रोशनी

शब्द की राह से
रोशनी के लिए
चल रहा वक्त से युद्ध

जारी रहे, मीत—
छोटी खुशियो के उठते रहें गीत
दुख मे सहारा बने प्रीत
शामिल शरीक
वही सौंपी तुम्हें—

-यो पूरा हो जब मेरा काम
और पलको मे घिर आए शाम
सोने देना
हथेली को धीरे से थाम
अनसुनी जो कथा रह गई
वक्त को उसे कहने,
न कहने दो ।

लहर को न दो कोई नाम
उसे गुमनाम रहने दो ।

[२२ अगस्त १९७९ अपने साठवें जन्म दिन पर]

नया बनने का दर्द

पुराना मकान
फिर पुराना ही होता है

—उखड़ा हो पलस्तर
खार लगी चनखारिया
टूटी मेहराबे
घुन लगे दरवाजे
सील भरे फर्श,
झरोखे, अल्मारिया

—कितनी ही मरम्मत करो
चेपे लगाओ
रंग-रोगन करवाओ
चमक नही आती है
रूप न सवरता है
नीव वही रहती
कुछ भी न बदलता है —

—लेकिन जब आए
नई दुनिया की चुनौतिया
नई चीजो की आधिया
घर हो—

या व्यवस्था हो
नक्शा यदि बदला नही
नया कुछ हुआ नही
बखिए उधेड़ता
वक्त तेजी से आता है
जो कुछ है सड़ा-गला
सब कुछ ढह जाता है—

—यो, तो पुराना सभी व्यर्थ नही होता है
वह एक रंगीन डोर है
रोम रोम बधी जिससे
एक-एक पीढ़ियां
माटी से बनी देह
रंग, रूप, बीज-कोष
अपनी पहिचान-गंध
सस्कार सीढ़िया

जो कुछ पुराना है मोहक तो लगता है
टूटने का दर्द मगर सहना ही पड़ता है
बहुत कुछ टूटता है
तब नया बनता है ।

[२९ नवम्बर १९८५]

चाँदनी की रात है

चाँदनी की रात है तो क्या करूँ
जिन्दगी मे चादनी कैसे भरूँ

दूर है छिटकी छबीली चाँदनी
बहुत पहली देह-पीली चाँदनी
चौक थे पूरे छुई के चाँदनी
दीप ये ठंडे रुई के चाँदनी
पड रही आगन तिरीछी चाँदनी
गध-चौके भरे मैले वसन
गृहिणी चाँदनी

याद यह मीठी कहा, कैसे धरूँ
असलियत मे चाँदनी कैसे भरूँ

फूल चपे का खिला है चाँद मे
दीप ऐपन का जला है चाँद मे
चाँद लालिम ऊगकर उजला हुआ
कामिनी उबटन लगा आई नहा
राह किसकी देखती यह चाँदनी
दूर देश पिया अकेली चाँदनी

चाँदनी की रात है तो क्या करूँ
आँसुओ मे चाँदनी कैसे भरूँ

शहर कस्बे, गाव, ठिठकी चाँदनी
एक जैसी पर न छिटकी चाँदनी
कागजो मे वद भटकी चाँदनी
राह चलते कहा अटकी चाँदनी-
हविस, हिंसा, होड है उन्मादिनी
शहर मे दिखती नही है चाँदनी

चाँदनी की रात है तो क्या करू
कुटिलता मे चाँदनी कैसे भरू-

गाव की है रात चटकी चाँदनी
है थकन की नीद मीठी चाँदनी
दूध का झरता बुरादा चाँदनी
खोपरे की मिगी कच्ची चाँदनी

उतर आई रात दूर विहान है
वक्त का ठहराव है - सुनसान है

चाँदनी है फसल
ठंडे बाजरे की ज्वार की
गोल नन्हे चाँद से दाने
उजरिया मटीले घर-द्वार की
एक मुट्ठी चाँदनी भी रह न पाई
जब्र लूटे घूजते संसार की
दबे नगे पाव लुक-छिप भागती है
धूल की धौरी नदी गलियार की
चुक गई सारी उमर की चाँदनी

बाल सन से ऊजरे ज्यो चाँदनी
कौडियो सी बिछी उजली चाँदनी
कौडियो के मोल बिकती चाँदनी
और भी लगती सुहानी चाँदनी
धान, चावल, चून होती चाँदनी

चाँदनी की रात है तो क्या करूँ
पजरो मे चाँदनी कैसे भरूँ

गाव का बूढा कहे सुन चाँदनी
रात काली हो कि होवे चाँदनी
गाव पर अब भी अधेरा पाख है
साठ बरसो मे न बदली चाँदनी

फिर मिलेगी कब दही सी चाँदनी
दूध, नैनू, घी, मही सी चाँदनी

चाँदनी की रात है तो क्या करूँ
ढठलो मे चाँदनी कैसे भरूँ ।

मेघिमा

यह असाढ मेघिमा
भूमि-गंध मधुरिमा
घन के आलिंगन मे
चपला की भंगिमा
—अनियारी मेघिमा—

मुदरी के नग जगमग
नीलांजन सांवर दृग
पुरवा से चंचल पग
कुंतल निशि-कालिमा

पूरी भरी देह
मद मुग्ध चाल
परछाई सी हल्की चुनरी का नील जाल
शब्द मे फुहार
प्रीति घुमडन
मन मे मराल

—बाहों ढकी चन्द्रिमा
यह असाढ मेघिमा—
इन मीठी सुधियों के ये मोहक इंद्रजाल

टूट गए
सूख गए
एक शात दुनियां के
निर्मल मन-भरे ताल
घन गर्जन नही
जन का हाहाकार है कराल
अब न सुखी भीगे दिन
रिमझिम झिर लगी रात
रुंध गए मोरकंठ
रुठ गई बरसात
देखे नहीं इन्द्रधनुष
बच्चो ने सुनी बात
चारो तरफ दिखते सिर्फ
दौलत के फौवारे
पापो की बारात—

निचुडे पनीले दिन
साझ
स्याही लगी लालिमा

ओ, असाढ मेघिमा ।
क्या फिर कभी लौटेगी
इस अशात दुनिया मे
भूमि-गध मधुरिमा
एक नया आकाश
चपला की भगिमा ।

हिन्दी जन की बोली है

एक डोर मे सबको जो है बाधती—
—वह हिन्दी है
हर भाषा को सगी बहन जो मानती
—वह हिन्दी है

भरी पुरी हो सभी बोलिया
यही कामना हिन्दी है
गहरी हो पहचान आपसी
यही साधना हिन्दी है
सौत विदेशी रहे न रानी
यही भावना हिन्दी है

तत्सम तद्‌भव, देश-विदेशी
सब रंगो को अपनाती
जैसे आप बोलना चाहें
वही मधुर वह मनभाती

नए अर्थ के रुप धारती
हर प्रदेश की माटी पर
'खाली-पीली-बोम-मारती'
बम्बई की चौपाटी पर

चौरघी से चली नवेली
प्रीति पियासी हिन्दी है
बहुत-बहुत तुम हमको लगती
'भालो-बाशी,' हिन्दी है

उच्च वर्ग की प्रिय अंग्रेजी
हिन्दी जन की बोली है
वर्ग भेद को खत्म करेगी
हिन्दी वह हमजोली है

सागर में मिलती धाराएं
हिन्दी सबकी सगम है
शब्द, नाद, लिपि से भी आगे
एक भरोसा अनुपम है
गगा, कावेरी की धारा
साथ मिलाती हिन्दी है
पूरब-पश्चिम
कमल-पखुरी सेतु बनाती
हिन्दी है ।

[२१ जुलाई १९८८]

निथरी हुई बूंद

बच्चा
सूरज से पहले जाग जाता है
नन्ही मुट्ठियो मे
बद किए आसमान
तेज-तेज
हाथ-पाव चलाता है
आते नए वक्त को
जल्दी बुलाता है--

--घर भर मे
दिन सा निकल आया है
मन मे अचानक
धूप भर गई है
ठहरी हुई दुनियां को
गति मिल गई है

--बच्चा
किलकारी भरता है
ओठ-कोरो
मुस्काता है
हल्की तैरती आवाज से
खिलखिलाता है

तमाम पेड़-पौधों पर, ढेर-ढेर
कलिया चटकी हैं
फूल उड़ रहे हैं
छोटी श्यामा चिड़िया
मीठे स्वर
हवा मे घोल गई है
समय की कड़वाहट कुछ कम हो गई है—

—बच्चा घुटनो चल निकला है
रुकता ही नही गोद मे
कमरे-कमरे फिरता है
ठहरता है, बैठता
मुड़, पीछे देखता
फिर आगे बढ़ता है
सब कुछ छूता है
टटोलता है, चखता है
मना करो
तो बिखरता है

—अपनी तरह
हर सत्य तक
वह पहुचना चाहता है
मुझसे बेहतर

एक दुनिया, शायद
रचना चाहता है—

—बच्चा
गुमसुम है, निढाल है
कह तो कुछ सकता नही

बुझी हुई आखो से सिर्फ देखता है
बीमार है

—अब यह सारी दुनिया
उदास है
उजाड है—

—बच्चे ने पहिला शब्द बोला है
नई जलतरंग पर
पूरी सृष्टि को निचोडती
पहिली गूज नियर आई है
चीड और देवदारु के
अछूते जगलो से
सुबह की हवा आई है
सासो से पीकर
रख लेने का
जिसे मन करता है

—सारी ध्वनियो को यह शब्द
धोकर ले आया है
कोई एक नया अर्थ
फिर भापा मे आया है ।

[१६ अगस्त १९८५]

किसी भी बच्चे के लिए

लाल सुनहरे बादलो मे से
अनहोने रगो मे झरते
मुह धुले भुरभुरे सुबह को
उसने छू कर खिलाया
पीले ऊन की फुदनेदार टोपी पहिन
फूल वाले मौसम सा
वक्त की घडी आगे घुमाता वह आया
वानस्पतिक धूप ने अपने मे बहुत डूब कर
पता नही किस फुर्सत मे
इतना सुघर उसे कैसे बनाया—
—एक पूरा आता इतिहास लिए
दिन दिन वह निखरता है
और मेरा मन रह-रह कर डरता है

डरता है मन,
कहा रखू
आने
वाली दुनिया के इस नायाब चदोवे को—
अपने समय के अधेरो से बचाकर
कहा किस जतन से—
गिरते रुग्ण नीलामी पहाडो मे

बेशुमार कटते खिरखिरे जगलों मे
शहरी मलवो से गटर बनी
नदियो किनारे बंधी
सरपत के टट्टरो छाई
मछेरो की नावो मे
फूस की अछूत छपरियो मे
अनाम जलते गावो मे
काई काले खपरैली
कस्बे के रुआसे घरों मे
बढते हाहाकार सी दिन-दिन बढ़ती झुग्गियो मे
फटी जैब झीखती मध्यम कालोनियो मे
युद्धो, हत्याओ हथियारो की दौड़ो मे
मफिया, मुनाफों, षडयन्त्रो मे, लूटो मे
भ्रष्टाचारी घपलो मे
अमानवी क्रूरताओं मे

कहा, किस व्यवस्था मे
रोपू किस जमीन पर—

यहा—
साय-साय करते जो जगल अभिशप्त है
कही बियाबान रास्ता वह न भूल जाय
लाल पगतलियो मे गड जाय गोखरु
फंसता जाय
भटकटारियो, राम-बाणो मे
घेर ले सई साझ
स्याहियो से झपटती
लूघर सी जलती लाल विषधरों की आखे
हाथी-घास मे सरकता फन उठा नाग—
लिपट जाय

पकड ले फिरौती मे
नाक तक ढटठे वाद्ये
नए पिंढारी गिरोह—
गाव छोड आए
भूखे पेट काम ढूढते,
रद्दी बटोरते
शहर की सीमेंटी भुलैयो मे न खो जाय
साधुओ का वेश धरे
जुर्मों की जमीदोज दुनिया मे न ले जाय
पापो पर मुटाते लोग
आजन्म वधुवा बना
मुह तक न खोल सके
मुस्तडे कारिंदो, रसूक वालो की मार से—

तो—
यही तो होता आया है—

नही, वह प्यारा आने वाला वक्त
वहा नही होगा
वह बढेगा
वह बदलेगा
पर मेरा मन डरता है—

ये जो दूर दूर गाव-गेवडो के बाहर
लदे फदे सिद्ध फार्मो मे
सडको के किनारे
लवे अधेरो की कथरी पर
थेगलो सी
जल-बुझ हैं बिजली की बत्तिया
ज्यादा चमकती है

कतारी
दो नम्बर व्यापारी
छुटभैये काइया
चालाक मुखिया
निबूबू-निचोड बचे मास का हिस्सा बाट
करते
गीदड बिचौलो की चकाचक हवेलियो पर
नई दौलत और ताकत के ऐठे गरुर पर
भद्दे चटखारे भरी बलात्कारी मूछो पर

कम, और कम होते जाते है
ढमक ढोल
फूस-ढके टोलो के
सिर्फ फटे पेट की ढोलकी से निकलती है
सन्नाटे के कलेजे को चीरती
जले झोपडा के झुलसे
लाश-दाग पर बैठी
बोटी बोटी कटे परिवार मे बची
एक पोपली झुर्रीदार
धाडो भरी चीत्कार—

क्या उसे भी हत्यारे
बेखबर नीद से झिझोडकर जगायेगे
फटी आखो से देखते
भयकातर अचम्भे से
उस बेकसूर को—
एक धाय मे सुलायेगे ?

क्यो अब मुझे दिखते है
भरेपुरे योद्धे से चेहरो के आसपास

सूखे, सुते चेहरे
घिघ्घी वधे गले
घूजते हाड औरते, बच्चे और बूढ़े
लाजवतियो की नगी परेडे
खुले आम शर्मनाक शील-हरण लीलाए
तेल डाल जिदा जलाई हुई
दहेज की माचिस से
नई सुहाग चूनरो मे लिपटी हुई ललनाए
चादनी रातो की सोती शीतल हवाओ मे
चलती दिखती हैं हत्यारी भूत मशाले
एक शात, सुन्दर बढ़ती हुई दुनिया के बदले
साबित बडी मूरत को
टुकडे करने पर आमादा
इतिहास से बेसबक
गृह-दाह के रक्त रगे बादलो की शामे

ये सपने की बर्राती नीद नही—
तो फिर यह क्या है अकल्पनीय
नही, यह सच है
नही यह नही है
खौफनाक सपना—
खूखार असलियत—
चकर-मकर आखो के सामने
खबरो की निकलती हैं काली स्याह लाइने
गोल-गोल घूमते हैं
वक्त के आईने—

मेरा पूरा शरीर एक आवाज बन जाता है,
भाषा के अब तक सब बने शब्द
मन के सारे अ-शब्द

लम्बी बलिष्ठ बाहो से
पीछे धकेलने लगे इस कहर भरे दृश्य को
नही, और नही
मेरी आवाज
टिटहरी की आवाज
गूज गई रात के अशुभ सन्नाटे मे—

दुहरे अधेरे मे वह छोटा चदोवा
और तेज होकर
मेरे पास सरक आया है
मैने घबराकर वक्त की स्याहियो मे डूबी
अपने कलम की निब
जोर से गडा कर कागज पर तोड दी है

—आगे की कविता
वह एक नए रंग की रोशनाई से लिखेगा ।

[२८ जनवरी १९८२]

बदलते मौसम का गीत

आयी रितु
भरती गन्ध-गुच्छे शिरीष मे
भीने हो गए
सभी कोने आकाश के
नए नरम पत्तो पर
दिन हुए चमकीले
लाए पीली चिट्ठी
धूप-फूल अमलतास के—

लेकिन
अब देखता न कोई फूल-पत्ती को
सारे रुप-रंगो की
खत्म हुई पहिचान
इतनी बदसूरत
हो चुकी है यह जिन्दगी

जीना बहुत मुश्किल है
मरना बहुत आसान—

एक और दिन
और सकट का सामना

आदी हुए लोग
हर हादसे व, पाप के
शाम
डरा सुनसान
सहमे हुए घर मकान
सुनते है सास थाम
अभी फिर टूटेगे
कही किसी चीख से
सन्नाटे रात के—

खूनी, जली बारुदी
चलती है आधिया
भूखे जलहीन
गाव-खेत थरथराते हैं
सत्ता की चमक तले
लगे स्याह मकड जाल
सारी रोशनी को
बीच ही मे
पी जाते है—

नीचे बहुत उतर गया
जहर फूट-हत्या का
छोटे-बडे प्रश्न
अग्नि-काण्ड बन जाते है
उन्हें नही अहसास
कहेगा क्या इतिहास
वे जो इस सदी को
मध्य-युग मे लिए जाते है—
एक बन्द पोखर के

चीकट खडे पानी मे
तह से सतह तक
कालिमा ही नजर आती है
कितना ही साफ करो
कीचड कहा धुलती है
हर सच के चेहरे पर
कालिख पुत जाती है

हत्या-दुर्घटना का पत्थर
फिर फिकता है
हलचल फिर होती है
फिर थम जाती है
निदा, सवेदना, शोकसदेश, प्रस्ताव
भरकम लोथ हिलती है
फिर मर जाती है

ये एक खतरनाक
दर्रा है मोड है
पलट रहा वक्त
तेज पन्ने इतिहास के—
शहर-गाव बीच
मेरे कस्बे के अब उजाड
पुराने छवैला-बाग मे
पलाश अभी तेजी से खिलता है
खेतो की मेहनत-कसी हरियाली

दिशाओ को रगती है सुर्यमुखी
करोदे की काटेदार देहाती खुशबू
समय की हवा जगली

दूर लिए जाती है
बस्तियो, मैदानो में—

चर्राकर टूटती व्यवस्था के
इतने अन्यायो मे
पता नही क्यो मुझे
अब भी है अहसास
मौसम फिर बदलेगे
बच्चे फिर खेलेगे
एक नई गुलाबी
आलोकित दुनिया मे
लौटेगे दिन फिर
ममता, विश्वास के ।

[२२ अप्रैल १९८५]

काल के कगार से—
एक

अनन्त की देहरी पर

घटना और दुर्घटना
सयोग और वियोग
जीवन और मृत्यु के बीच
एक अदृश्य द्वार है अनन्त का
जिन्दगी जहां डबडबाती खडी रहती है
अंजलियां बाधे हुए

अपने हाथो से परे
एक सूक्ष्म अर्न्तयाम डोर है
कीलित हर बीज मे
जो होने न होने की देहरी पर
पारदर्शी छाया शरीर-सी
चमक की प्रतीति सी
कौंध के पलक झपकते अहसास सी
सहसा धुधली दिखकर
लोप हो जाती है
सब कुछ समेटकर साथ ले जाती है
या एक अभी-अभी

अधबो पल मे
दे जाती है अकस्मात
पहचान
क्षिप्र पैर धरकर मिहिका सी निकलती
उस अनन्तता की
जिसके बीच जन्म और मृत्यु की छोटी सी दूरी है

मृत्यु नहीं है नीद आखिरी
बूद भर धडकता आलोकित अन्तराल है
जीवन का
वह एक चुनौती है
इस सारे मोहक सपने के बीच
खुद को समझने की
और हो सके तो कभी पूरे होने के लिए
बहुत अच्छे नए सपने छोड जाने की ।

[२० फरवरी १९८४ जब मेरी बीमारी को असाध्य बता दिया गया था]

काल के कगार से—
दो

ठंडे कुहरे

आखो मे मेरे ठंडे सफेद कुहरे हैं
हवा ने मारा है हिमवाण
छाती पर
अब मेरे जीने की ज्यादा उम्मीद नही ।
जब सारी जलवायु
बादल, बिजली, हवा
धूपहीन आसमान
धुंध डूबी चादनी
सिर झुकी रूआसी पालेमारी—
—वनस्पतिया
सुबह, शाम, राते
ये सारी प्रकृति ही मेरे विपरीत हुई—

इन सबको
जिन्हे मैने
अलग अलग अजलिया भरकर पिया था
अलग अलग स्वाद जिनका लिया था
दिन-दिन भर

रातो को जाग-जाग
सासों मे जिया था
वे सब एक साथ मिलकर बनी हैं
वात्याचक्र गाठें
शरीर मे बद हैं बवडर
मथ रहे
छाती की धौंकनी
हड्डियो को, मज्जा को
पजर भर सिर्फ खाल
उभरी मोटी रस्सी-सी नसो को
मन सिर्फ साथी है
सासे जो बाकी है
वे अब अमोल हैं

नदी आ गई है मुहाने तक
जल जितना रह गया है तेरे पास
वह अब उडेल डाल
अपने से बडे सच के सागर मे
सपना चाहे छूटे तो छूट जाय
कोई बूद बाकी न रह जाय ।

[२१ फरवरी १९८४]

काल के कगार से—
तीन

समय एक सतरगी डोर है

समय तो सजीवन है
सब कुछ भर देता है
दुख की हर तेज आच
पूरी सोख लेता है—

समय तो धुध है
सब कुछ डुबा देता है
मोहक से मोहक चीज को भी
भुला देता है—

समय तो पलटा हुआ पन्ना है
उम्र की किताब का
जिन्दगी की पूरी-पूरी धडकती तसवीर
आखो के सामने ही
बन्द कर देता है—

समय एक अटूट
डोर है

सतरंग प्रवाह है
मेरी हर भावना का मोह का
प्रीति का, संघर्ष का
टूटी देह का, बिछोह का
हर अधूरी इच्छा
वह समेट कर ले जाता है
मेरा एक शब्द
फिर भी बाकी रह जाता है

[२४ फरवरी १९८४]

काल के कगार से—
चार

पुनर्जन्म की नई कामना

शरीर तो मिट्टी मे मिल जाएगा
मन यही रह जाएगा
यही इन मनहरन दृश्यो मे
वह बार-बार
इन्ही मे जन्मेगा
इन्ही मे वापिस आ जाएगा—

वह नई चिकनी कोपल मे बैठेगा
घास-फूलो मे
छरहरी उजास बन फैलेगा
खेतो पार जाते गलियारो मे
चरवाहो की हाक बीच
फिर रुकते-बोलते
-वक्त बदलने की-गिनती सी गिनते
काले झीगुरो की जीन्कारो मे
दहशत भरे
सन्नाटे तोडेगा
सुआ-पख ढकी कच्ची मक्की मे

-जुआर मे
दाने मीडने पर
हथेली से
दूध सा टपकेगा--

प्यासो को
कुए की हर जगह ठडक बनेगा
सदानीरा निर्मला नदी सा बहेगा
दोपहरी को छाया मे सुस्ताने
किसानो, कामवालो को
निदारे मोटे स्वर मे
फाख्ता बन बुलाएगा--

बेल बन
जहा कही लिपटेगा
चपे पर फूलेगा
खिलकर गिर जाएगा
फिर गध-पाव रोपेगा-
अनार मे सिदूरी फूल सा
छुपा हुआ
अचानक दिखेगा
मन खुश करेगा
अनायास--

ऊचे यूक्लिप्टस पर
रोएदार फूलते सिरस पर
फल मे बदलती कलियो भरे अमरुद पर
आकाश से नए डोडे झरने की प्रतीक्षा मे
बाहें खोले सेमल पर
गरबीले अशोक पर
चिड़िया बन उडेगा--

जब-जब
जहा-जहा
बच्चे निर्भय हो खेलेगे
किलकारिया भरेंगे
नए खून की दौडती गुलाबी मे
खिलती कसी लडकिया
बात-बात पर अकारण हंसेगी
युवा झूमेगे,
मुक्त आकाशो मे
शाति-गीत गाएगे
वहा-वहा वह खुश होगा
उनकी चमक को और तेज करेगा–
जितने अधूरे छूट गए है मेरे काम
पूरा करने को उन्हें उकसाएगा
नए रुपो मे
और अच्छी दुनिया को देखने
यह मन
यही-यही रहता चला जाएगा ।

[२४ फरवरी १९८४]

काल के कगार से—
पांच

रजनीगंधा कुम्हलाई

दूरी तक फैलाकर अपनी पूरी सुगंध
सूख-से रहे हैं रजनीगंधा के फूल
मिले थे जो तुमसे मनुहार से
सिर्फ एक पतली डगार ही बची है
रखी है बडे जतन से सहेज कर
जल भरे पारदर्श, निर्मल गुलदान मे
मन के खुले आत्मदानी आसमान मे

पाच फूलो वाला एक ढीठ गुच्छा
झरने से इनकार करता सा
देता हुआ काल को चुनौती-सा
अब भी छितराता है
हवाओ को हल्की करने वाली मिठास
बिन जताई मोहक उजास
बिल्कुल वैसी ही
ताजी तेज
अकारण, अनायास
कुछ और भी गमकती है महक
उठती है गंध लौ
चारो ओर आसपास—

ये शरीर, ये फूल, ये दीपक
चलता हुआ यह प्रकाश—
खत्म नही होने देगा सुवास
आदमी से आदमी का सहज प्यार
आता नया ससार
कितना ही घिरता रहे अधकार

[२९ अक्तूबर १९८६]

अन्तरिक्ष से पृथ्वी दर्शन

-फिर हमने देख लिया है
वह अलख विराट
अनझिप नक्षत्रो टंकी
दर्पण-कालिमाओ से
-फिर हमने छुआ
सृष्टि का प्रथम रहस्य द्वार
अपनी मिट्टी से जन्मी
पार्थिव दो आखो से—

जगल की धुधभरी सदियो-सध्याओ से
जब इतिहास के पहिले अध्याय खुले
ईश्वर विहीन हिस्र भय के भुलावो मे
आधी दुनिया को अभी थे न मर्म-पथ मिले

—तब हमने
आदमी की स्वस्ति कामनाओ से
तमस मे उजेले की रेखा को आका था
अजलि मे सामूहिक मगल के कमल भरे
मत्र के, ऋचाओ के पखो से
आकाश की दिव्यताओ को नापा था—
सूक्ष्मो से लेकर महीयानो तक
अन्तर की आखो से झाका था
दृश्यो के पार
अदृश्यो से बधे हुए

वहे अभिप्राय को पहिचाना था
मृत्यु के आवर्तनो में अमरत्व रोपा था
जीवन के होने का
पुनीत अर्थ जाना था—

हमने ही पहिली बार
शून्य को दिया था प्रिय बिंदिया का आकार
नामहीन सृष्टि को शब्द में उतारा था
रुप, रंग, गंध की देह-मोहिनी छटाओ मे
अमूर्त को सवारा था

फैंक दिए थे हमने
अनगिन जीर्ण वसनो से
सारे छुद्र स्वार्थ
क्रूर लोभ, कुटिल अहंकार
फैंक दिए थे दिग्विजयो के हथियार
हिंसा के आसन पर
अभिषेकित किया था प्यार

आज वही ममता की वाणी फिर
अपनी ही मिट्टी की रोमांचक भाषा में
आई है शब्दहीन मुग्ध अंतरिक्ष से
घूमते हुए अनन्त सूरज के पथ से
देखकर पृथ्वी की चंदन-नील सुन्दरता
क्षण भर को सांस रोक देने वाली
शान्त अद्वितीयता
भान ही न होता
इस मनभावन नीललोक मे
बादलो के नीचे
छबीले धरातल पर

कितना घोर मंथन है,
घृणा, द्वेष, हिंसा का
वहशी पागलपन है
शोषण, विलाप भूख, छीन-झपट, गृह-दाह
खदक रहा
आदमी के निर्दोष खून से भरा कड़ाह

अपनी शक्ति, सत्ता, धन, शस्त्रों के गरूर पर
डूबे हुए आत्म-घाती लोगों ने
जाना ही नही अब तक
अलग-अलग कुछ भी नही
सब कुछ एक दूजे से बधा है
जीवन-डोर एक है
पृथ्वी सिर्फ एक है—

क्या अब भी आदमी को
जीवन की मर्मशील भाषा नही आएगी
क्या अब भी मन के हर कोने मे
समवेत शाति की आवाज नही जाएगी
क्या मध्ययुग के क्रूर किले बद घेरो मे
या और पीछे जन्तु-गधी अधेरो मे
फिर से इतिहास की
लहर लौट जाएगी ?

[९ अप्रैल १९८४]
[भारत के पहले अतरिक्ष यात्री राकेश शर्मा ने जब ३ अप्रैल १९८४ को सोवियत रूस के स्पेस यान 'सोयूज २ से अंतरिक्ष भ्रमण करते हुए अतरिक्ष की अगाध कालिमा के बीच बडे नीले मनोहरी चांद सी चमकती अपनी पृथ्वी के गोलक को समूचा देखा था।]

समय की धार

मुझे मत रोको
मै तो नदी हूं
वन, पर्वत, गावो से शहरो तक
ग्रह से नक्षत्रो तक
बहता जल अपार हूं
समय की धार हूं

मै ही अतीत हूं
वर्तमान हूं
अनागत हूं
हर क्षण बनता
तुम्हारा इतिहास हूं

मेरा नियम है यही
रुकता नही हूं कभी
रोका,
तो फिर मै
परिवर्तन दुर्निवार हूं

मुझे मत काटो
मै तो बयार हू
फैली हुई छाया हूं
नमी हूं
जल की पुकार हूं

आखों की ठडक हू
तुम्हारी ताजी सास हू

क्या मेरा यह कसूर है
कि लालची लोगो की
कुल्हाडी के सामने
मै सिर्फ एक निर्विरोध पेड हू
पेड नही
वन हू
जीवन का क्रम हू

मुझे मत मारो
मै तो भविष्य हू
अभी अभी जन्मा
एक प्यारा मेमना
सुन्दर हिरन हू
निश्चल भोला बच्चा हू

क्या मेरा यह कसूर है
कि छुटे हुए भेडियो की
हत्यारी दुनिया मे
मै पैदा हुआ
किसी एक शक्ल मे
नस्ल मे, रग मे, जाति मे, धर्म मे

मुझे मत तोडो
मै एक अजर गध हू
हर बार मिटकर
फिर सुलगता हुआ रग हू
मै सिर्फ सजावट नही

महलो, गुलदानो की
दिखावटी रस्मों की
खुशामदी सम्मानों की

मेरा अर्थ खुलता है
मामूली लोगों के
मेलो त्यौहारो में
दूर तक फैले
कंकरीले पठारो मे
ढूहो टौरियो के बीच
हरियर खेतो मे
गावों गलियारो मे
बच्चों के घरोदो पर
खुरसे फूल पत्तो पर
वन की कन्याओ के
सीधे सरल जूडो पर

मेरा सिर्फ कसूर यही
खिलता मुरझाता हू
एक अटूट बीज-डोर
फिर भी तुम्हें सौप जाता हू

मुझे मत भरमाओ
मैं कागज पर लिखी हुई
बेजान सख्या नही
दूर टगा नक्शा नही

मैं जीवित हू
जनता हू

हर नाइंसाफी से
जूझने की क्षमता हू

गरीब हू, भूखा हू, बेकार हू
पता नही
किस अदृश्य गरीबी की रेखा से
ऊपर हू
नीचे हू
भीतर हू
बाहर हू
एक असाध्य न्याय का
बेसब्र इन्तजार हू—

मुझे मत बाधो
मै असलियत का दर्पण हू
निर्मम एक काच हू
शब्द हू
शब्द बीच रखी
सचाई की आच हू
मेरा यही दोष है
मै नकाबे उलट देता हू
झूठ के अन्याय के
फरेब तोड देता हूं

आदमी का जब भी कभी
सब कुछ छिन जाता है
तब भी एक तेज शब्द
बाकी रह जाता है ।

[१ जुलाई १९८६]

रोशनी रूकेगी नहीं

कितना कठिन होता है यह असूझ रास्ता
जिसपर चलते-चलते
एक उम्र
एक सदी
चली जाती उदास है
लेकिन यह भी सच है
हर अंधेरे की यात्रा
रोशनी की तलाश है

और कब तक रोकोगे धूप
वह किसी भी मोखे से
सद से, दरार से, झरोखे से
झर कर कहीं से भी
भीतर आ जाएगी

कही फूल
कहीं किरन
कही हवा
जल की झरन
कही किलकारी, हंसी
बच्चों का चिन्ताहीन खुला शोर
शाति, खुशी, रहन सहन
भूखे को रोटी

अधे को मिले नयन
ऐसे ही रूपो मे
रोशनी हमेशा
आदमी को मिल जाएगी

कितनी रोकोगे धूप
फिर भी वह आएगी—

कितनी रोकोगे आग
वह
किसी भी कोने से
कोई रास्ता न होने से
गाव से, गली से
फुटपाथ से, जमीन से
मिटटी से, बीज से
गेती से, कुल्हाडी से
जगल के बीच से
राख की दीवार फाड
भस्मक अग्नि-पक्षी सी
उडती चली आएगी

कितनी रोकोगे आग

मा की मसोसन तेज—
ठुकराए प्यार की—
चीख बेकसूर की
खामोश शब्दहीन
आखो में चिगारी
तडपती हुई विजली
सताए हुए व्यक्ति की

झूठ से फरेब से
छीने अधिकार की

आग वह गरीबी की
ज्वाला वह पेट की
भूखी बेहोशी मे
गहराती, डूबती, मुदती
आखें बच्चे की
जिन्दा जलाई असहाय नारी देह की
बूढ़ो की अवहेलित कराह की
वर्षों से न मिला वाले न्याय की
बध्या इन्तजार की—

बांचो, यह इबारत धुए की
करस-कंडों भरे
गावो के धुंधवाते अलावो की
पढ़ सका तो पढ़ो—
कस्बे-शहरो से निष्कासित
टूटी गन्दी दीवारों पर लिखावट की
जब हर थकी दिहाडी की उदास शाम
पेड़ो तले डालती हो पडाव
ईंटो के बीच, बीन बीन कर ईंधन,
अंधेरे में जगह-जगह लाल लपट
रूखे टिक्कड जो पकाती है
आग की यह आदत है
वह खामोश पैरो से
चुपचाप आती है

इतने इतने वर्षो तक
अवहेलित जब रहती है

रात की दीवार फाड
भस्मक अग्नि-पक्षी सी
उडती चली आती है ।

[१५ जुलाई १९८७]

बसंत सिर्फ फूल नहीं
एक
गांव में फागुन

हल्की हवा मे लहकते
सरसों के खेत की मेड पर
दोपहर
चिलम मे सूखी तमाखू पीते
अपने अपने कपडे के छन्ने से
दो किसान बतियाते—
पूछा मैने, क्यों भाई
आगया बसत यहां—
अचकचाकर देखने लगे वे एक दूजे को
फिर सवालिया नजरों से
मुझ अजनबी से कहा
कोई नहीं है यहां इस नाम का
क्या न ?—फिर देखा आपस मे—

मैने फूली सरसो की तरफ इशारा किया
बैठी थी जहा तमाम तितलियां
चूसती पजीरी—
अघात म

हल्के हल्के ऊपर-नीचे
होते थे रंगीले पंख

अचानक वे किसान
देखने लगे आसमान
हल्की-हल्की बदरी की फुहिया थी
बोले,
बस कुछ थोड़ी छीटा-छाटी हो जाय
बच जाय फसल ये ओलो से
अच्छे दाम बिक जाय
कुछ घर मे भी आ जाय
अब की जेठ
इसी सरसों से बिटिया के हाथ पीले कराना है ।

[४ मार्च १९८९]

दो

घासवालियों का वसंत

रूखे, रूखे बाल
मटमैली धोतिया
पहने दो औरते
कंधे पर मैली चादर की
एक लंबी झोली है,
अक्सर दोपहर बाद—
आ जाती है खुपा खुरपी लिए चुपचाप
बडे पार्क के माली
सुस्ताते, ऊंघते जब होते हैं
चौकसी की ईंटवाली मढ़िया में—

चुपचाप दबे पांव
क्यारियों के आसपास
उगी दूब
जल्दी जल्दी खुरपी से खोदतीं
भरती जातीं झोली में,
फूल नहीं देखती
देखती हैं उगी घास,
सींचती हैं सूखी टहनियां

तोडती हैं झटपट
जलान को—

देखती हैं आसपास
देखता न कोई हो,

शाम तक इसी तरह
जगह जगह जितनी मिले
खोजती, खोदती हैं
दूब, घास
बेचेगी चारे को
शाम, तभी उनके लिए आग लाएगी
यही घास
रात की रोटी के लिए
आटा बन जाएगी ।

[५ मार्च १९८९]

तीन

शहर में बसंत

लगता है बसंत भी अब हो गया है समझदार
अलग अलग लोगों के लिए
अलग तरह आता है
बहुत दूर रहता है
बस्ती से कतराता है
छैल-चिकनिया
पत्रिकाओं, परिशिष्टों से
जब तक पता चलता है
गुमसुम चला जाता है

किसी के लिए वह
पिछली जवानी की याद है
तोड़ा था कभी एक पीला फूल
झुरमुट के पीछे छिप
किसी के नए घने जूड़े में लगाया था
जब उस उम्र की घुमेर से
मुंदती आंखोंवाली देह
सुगंध लदी बगिया ही लगती थी
—वही एक फूल तब पूरा बसंत था

या कोई जमा हुआ शहरी
जिसमे बचा रहा शायद
कही, थोडा सा देहात
बची रही
वर्षों पहले छुटे हुए गाव की
लिपे-पुते कच्चे घर की चितेवरी
ताजे कटे चारे की घास-गध
कंडो सिकी सोधी-सोधी रोटी
कुछ हाक, घटिया, आवाजे अलाव की
शाम के झीगुर-झनकते सन्नाटो मे

अक्सर उन्हें
बासो के झुरमुट
पनघट, चोली, चुनरी
कँगना, बिदिया, कजरा
छमक-छल्लो मौसम
यही ध्यान आता है ।

क्यो नही आते याद
पानी बिन दरके खेत
जले-घास चरागाह
कीच मे बदलते ताल
फागुन उतरते नीचे जाते कुए
टकराती खँगालती बाल्टिया, कलसे
मीलो चल जल लाती
औरते
सिर धरे मटको के गर्दन-तोड बेहरे
मटमैले बच्चे
बिन इलाज
झाड-फूंक

मौसमी तीरो के शिकार
धूप तपे ताबे से
मिट्टी के सख्त ढीमो मे
हाड तोडते किसान
कटी फसल की खलिहानो मे उडावनी
आखों में भरती सूखे भूसे की किरकिरी
जात की, बिरादरी की
आपस की रंजिशे
रसूखवालों का जोर-जबर
लठैतों की मनमानी मार-धाड
कत्ल, खून
बहू बेटियों की सरेआम बेइज्जती
घर या जमीन पर
जबरन कब्जा करने की ज्यादती

यह सब
और इसी तरह के तमाम दुख त्रास
अंतहीन अन्याय
क्यो नहीं उन्हें यह याद आता है ।
गाव के बसंत का
जब शहर मे ध्यान आता है

[५ मार्च १९८९]

स्त्री

—मै नीले आकाश वाली अपनी खाली बाहो मे
तुम्हें फागुनी चांद की तरह समेट लेना चाहता हूं

—मै धूप की ऊष्म उँगलियो से छूकर
तुम्हारी देह को आम्र-बौरो सा खिला देना चाहता हू

—मै तुम्हारी पलको और आखो के कोयो को
किंशुक के काही, ललाते रंगो से
और गहरा रँग देना चाहता हू

—मै तुम्हारे कानों की नरम लवो मे
गरम झनझनाहट भर देना चाहता हू

स्त्री,
लेकिन, तुम सिर्फ सुगध नही
नई नरम कोपल नही
नाज़ुक क्षणो की
घबराहट धड़कन नही
हल्के नम पसीने से खुलती हुई अजलि नही
चौमुख चलती दीवट नही

कभी भी पूरा खुला तिलिस्म नहीं
तुम एक पूरी दुनिया हो
धीरज से
हर चीज को समेट बढ़ता
रोशनी का दायरा
बड़े बड़े संकटों को झेलकर उछालतीं
सिंधु की बलवती तरंग हो
मैं तुम्हारे हाथों की समर्थ तनिमा में
सौंप देना चाहता हूं
वे सभी नियामतें
जो सब तुम्हारी हैं
तुमसे हैं
जिनसे तुम वंचित हो,

जिससे यह दुनिया
और ज्यादा जीने लायक फिर बन जाय
जहां जहां तुम हो
हरियाली वहां बच जाय
लोहे की धार
पंखुरी में बदल जाय ।

[११ मार्च १९८१]

पुश्किन स्मृति,
और पीले चौक
की सुर्ख शाम

आज मेरा मन अनकहना उदास है—
यह नही कि लौटी उस सितंबर की याद है
शरद की उतरती धूप
दहकती थी पेडो मे
मजे तावे से झलझलाते पत्तों पर
छहराती आती थी बाल्टिक की पतझरी हवा
चढाती फूल-पत्तिया तुम्हारी समाधि पर
एक झरा पत्ता अजीर का
मैने भी तुम्हारी स्मृति-सा उठाया था
रखा था सहेज कर
शब्दो के बीच
कविता की कापी मे
वह पत्ता सूख कर खखट हुआ, लेकिन
मेरे शब्दो को अब तक झलमलाता रहा ।

तुमने छोटी उम्र मे ही जी ली थी
जुल्म के खिलाफ तमाम अगली शताब्दिया
जब आखिरी हिचकी के साथ तुमने कहा था—
'मुझे अपना घर ठीक करना है'

डेढ़ सदी बाद
तुम्हारा घर ताजी हवाओ से साफ हुआ
खुली सारी आजाद खिडकिया
उखडे आततायी लौह दरवाजे
मेरे शब्द लेकिन अभी इंतजार करते हैं
स्याहियो मे लुक-छिप खडे हैं अभी
आजादी के जल्लाद
सपना मेरा जारी है
बाकी दुनिया के लिए ।

आज फिर मेरा मन बेहद उदास है
आखो मे बहुत भारी रक्त-धुध छाई है
मेरे भीतर एक पीला विशाल चौक
चित्रभाषा का स्वर्ग-द्वार
बन गया है यम-द्वार
पट गया है रातो-रात
ताजी जवान मुक्ति-कामी लाशो से
दस हजार खून लिथडे बेकसूर शात लोग
बच्चे माताए, युवक-युवतिया
अपना ही टपकता खून प्यालियो मे भरते हैं
मरते हुए लिखते हैं सुर्ख शब्द
लोकतत्र, आजादी
सडको पर, खभो, दीवारो पर
अनत शाति की उस पुरातन शाह राह पर
मौत के अनत सन्नाटे की जो राह बनी—

इस सदी के अतिम जन-मुक्ति के चरण पर
भेडिए और मेमने का वही पशु-न्याय लिये
दोस्ती भरोसे का वही
काइया मुखौटा पहन

एक बूढ़ी बिल्ली
अपने ही बच्चों को खा गई

मेरा मन उन हजारों घरों में भटकता है
चिराग जहां जला नहीं
रोटी जहां पकी नहीं
सीपिया पसली आंखों में आंसू जहां सूख गए
शब्द सभी व्यर्थ हुए
वक्त जब फैसला करने को आएगा
जरूर आएगा

उसे खोजनी होगी
कोई और नई भाषा
कोई और नया सामूहिक इंसाफ
फिर न कहीं दुहराया जा सके
ऐसा जघन्य पाप ।

[४/५ जून १९८९]

रामभरोसे

नीली रातें
फीके-से दिन
बादल, बिजली
हवा कटीली
पाले मारे
सिकुड़ें पत्ते
घास सूखकर
जली जली सी

रात दूर तक सन्नाती है
भूरा कुहरा
एक बजा है ।

सिर्फ जागते
सड़कों पर बिजली के खंभे
घनी धुंध में
फुलझरी सी आंख झपकते
दूर दूर तक
पहरेदार नहीं है कोई
समय संतरी
ब्रान-कोट में

लंबी ताने
ऊघ रहा है ।

अजब वक्त है—
खास-आम हर
किस्मी प्रभुजन
चरम सुरक्षा मे हैं सोते
बाकी जनता
राम भरोसे ।

—रामभरोसे
चले गाव से
शहर भटकते
काम ढूढते
रोजी धन्धे वहाँ न अब तक
सरक देहात शहर तक

नई जगह है
ठौर ठिकाना
कही न उनका,
किए बसेरा
टाट बिछाए
बोरी, बडल
गठरी-पुठरी मोटे झोले
टीन-टून के बर्तन-भाडे
ठलुआ बैठे बीडी पीते
पता नही है
अगले दिन का ।

राम भरोसे
अब घर गलियां
कस्बे, शहर, गाव, झोपड़ियां
इंतजाम,
सारी सुख सुविधा
सिमट गई है
बड़े मजे मे
कुछ मुट्ठी भर
चमचम घेरे

बाकी सब कुछ
राम भरोसे ।

अपनी अपनी पड़ी सभी को
कौन पूछता यहां किसी को
रात और दिन
इंतजार में
कहीं कभी भी
कुछ हो सकता,
ऐसे ही सब चलता आया
ऐसे ही सब कुछ है चलता

रुका हुआ हर कदम बवंडर
गूंज गई फिर चीख कहीं पर
लौटे कभी न
रामभरोसे ।

[२१ जुलाई १९८९]

कविता जमीन की

नहीं आएगी कविता अब चलकर
रंगी-चुनी
आधी खुली आधी ढकी
खुशबूदार-फूल-बंधे जूड़ों में
कसे तंग रेशमीन कपड़ों में
बार बार जानबूझ कन्धे से गिरते
शिफौनी पल्लों में
इतराती
सजे लॉनो के बीच बिछे
मखमली स्वागत कालीनों से

नहीं आएगी कविता अब चलकर

वह दूर
हवा बुहारे पठारों पर
खड़ी है
कमर-कमर घास में
कछौटे में खुरसे दरौंती
बड़े बड़े पूलों को बांधती
सधे हाथों से सहज ऊपर उछालकर
सिर धरे गट्ठर

नंगे पाव जा रही
तपी हुई सुनहरी शाम सी
गाव-घर लौटती वामा पगडंडी पर

वही सारी कविता है
कविता हमेशा जमीन से ही आएगी ।

[१ फरवरी १९८१]

एक खुला आसमान

सोचता हू मै अक्सर
अगर इस धरती पर
नदी नही होती
पेड नही होते

अपने अपने होने का
अलग अर्थ बतलाते
लाखो अगलिया भर धूप पीते
फल मे बदलते
फूल नही होते
सारे अहंकारो को चुनौती देते
पर्वत नही होते

तब कैसी होती यह दुनिया—
फोकी, कोरी, सपाट
सूखे सरकंडे सी
रेत सी
सारे रूप रस के
महीन रेशो से अनजान
आदमी होने की सबसे पहली पहचान

सोचता हू मै अक्सर
नीला नही होता अगर आसमान

सिर पर होता एक गाढ़ा काला
उल्टा हुआ कड़ाह,
टँके टँके घूरते-
चुभते हुए आखो मे
झिलमिलाते तारे नही होते,
सुनहरी सुबह शामे भरे
बादल घिर आते नही,
डैनों मे दूरिया समेटे
पक्षी भरते नही उड़ान
ऊची कामनाओ वाली उठान,

बच्चो की नजरो मे
अचभे नही होते,
प्रश्न करने की बात बात पर
अपनी तरह सत्य पहचानने की
छूट नही होती,
प्यार के पहले पहले स्पर्श की
खिलती कसी उम्र की आखो मे
तैरते नही गुलाब,
ओठो पर हरसिंगार
पड़ते हुए बार-बार,
होती नही ममता, भरोसा, न विश्वास
और नई दुनिया के नक्शे छोड जाने को
होते नही
सपनो मे देखे हुए ससार

जीने के काबिल तब
होती क्या जिंदगी ?

सोचता हूं—
कैसा भयानक होगा वह समाज
आदमी जहां सोच नही पाता हो,
बोल नही पाता हो,
जो कुछ देखता है
वह देखने न दिया जाता हो,
सच को सच मानने
कहने न दिया जाता हो,
किसी बडे झूठ को बार बार दुहराकर
सच में बदला जाता हो
न्याय, अभय, इंसानी अधिकार
देश-द्रोह कहा जाता हो
जैसा-हुआ है अभी सीमापार
जैसा हुआ है कई देशों मे, दूर-पास
जैसा बतलाता आया—
अपनी ही सदी का नही
घोर यातनाओं का
पुराना सारा इतिहास

भूलते हैं जो इसको
भोगते हैं बार-बार

—शुक्र है,
किसी लौह ढक्कन से बंद नही,
खुला है मेरा आकाश,

—शुक्र है,
अब भी हवा है मुक्त
निर्भय लेता हू सांस,

—शुक्र है,
तमाम दबावों के बावजूद
अपनी तरह
देख सकता हूं अपना आसपास

—शुक्र है
मेरा शब्द अब भी है मेरे पास ।

[७ अगस्त १९८९]

कोई भी राम बहादुर

तुम अनाम थे
अनाम ही रहोगे राम बहादुर
हर राम बहादुर के साथ
हमेशा यही होता है
अन्याय के खिलाफ
इंसानी हक मांगने
हर हरावल दस्ते के साथ
सबसे आगे वही चलता है
सबसे पहले गिरता है
पहला और आखिरी वार
उसपर ही होता है —

हां —
तुम्ही अनाम झेलते हो पहला वार
दम तोड़ते आखिरी वार झेलता है
तुम्हारा अनाथ परिवार

तुम्हारे लिए
कभी
कोई सभा नही होती
न होते शोक-प्रस्ताव
न लगते बड़े जयकार
न बनती संस्थाए

न स्मारक
न अमर ज्योति, यादगार
जलती हुई दिन रात—

हां,
बडी अच्छी, आसान
होती है संवेदना
कुछ चदा
कुछ फौरी इमदाद,
पर
पौंछ नही पाती है
बूढे पिता की बुझती आखों में
और धुध गहराती,
हथेली पर ठोडी धरे
उसी तरह गुमसुम ठगी बैठी हुई
पत्नी
जो अगले दिन का सोच नही पाती है,
नासमझ बच्चों की टकटकी
सूने दरवाजे से
जो लौट लौट आती है —

भूले सब —
कौन तुम्हें रखे याद,
तुम थे
एक रोज होती घटना
मामूली बात,
फिर भी मै दूगा
तुम्हें शब्द हर बार —
बडा होकर बेटा तुम्हारा
बने नही

फिर कभी ऐसे ही
कहीं, किसी दैनिक में
नीचे छपा
छोटा सा समाचार ।

[३ सितंबर १९८९]